॥ श्री जिनेन्द्राय नम ॥

श्री महावीर पुराण

(आचार्य सकल कीर्ति जी कृत)

सम्पादक—नन्दलाल जैन "विशारद"

प्रकाशक

श्री ऋषभदेव साहित्य सदन

श्री दिगम्बर जैन ऋषभदेव चैत्यालय

शकर गज, हापुड (उ०प्र०)

२३ ती॰

मैं ऐसे समस्त सिद्धों को नमस्कार करता हूं, जो सम्यक्त्वादि अष्ट गुण सहित ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥ १ ॥
अविरलशब्दघनौघाः प्रक्षालितसकलभूतलमलकलंकाः ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
श्रीपरमगुरवे नमः परम्पराचार्य श्रीगुरवे नमः ।

सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसा परिवर्द्धकं धर्मसंबन्धकं भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं "श्री महावीर पुराण" नामधेयं, एतन्मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाःप्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य आचार्य श्री सकलकीर्ति जी महाराज विरचितम् ।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी। मंगलं कुन्दकुन्दाद्यौ जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥
सर्वे श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ॥

२३ तीर्थ
मैं ऐसे समस्त सिद्धों को नमस्कार करता हूं, जो सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों सहित ।

प्रकाशक
श्री ऋषभदेव साहित्य सदन
श्री दिगम्बर जैन ऋषभदेव चैत्यालय
गकर गंज, हापुड (उ०प्र०)

आभार
इस पुस्तक के प्रकाशन
के लिए स्वीकृति देकर
जैन पुस्तक भवन
कलकत्ता के आभारी है।

प्राक्-कथन व ग्रन्थ-परिचय

यह 'श्री महावीर पुराण' परम विद्याधनी श्री १०८ आचार्य श्री सकलकीर्तिजी रचित है। यह ग्रथ वि० सं० १४७० के लगभग लिखा गया है। मूल ग्रथ संस्कृत मे है और उसमे ३५०० श्लोक हैं, तथा विंशति (बीस) प्रकरण हैं। सस्कृत सर्व जन सुबोध नही है, श्री नन्दलाल जैन ने बडी सावधानी से सरस, सरल व सुबोध भाषा में इसका अनुवाद किया है। इस पुनीत 'श्री महावीर पुराण' का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है —

प्रथम प्रकरण में भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण पश्चात् उनके प्रमुख देशनानुयायियो का या संघ-परम्परा का वर्णन है। इनमे तीन केवली, फिर पाँच श्रुतकेवली, फिर ग्यारह प्रमुखाचार्य, फिर पाँच ११ अङ्ग के पाठी, फिर चार कुछ अङ्गों के पाठो, फिर अत मे श्री भुजबली और श्री पुष्पदंत हुए, जिन्होने 'जय-धवल', 'महाधवल' नामक महान ग्रंथो की रचना की। यह महान रचना मित्ती ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को पूर्ण हुई, इसलिये इस पुण्य तिथि का नाम जैन ससार मे 'श्रुत-पञ्चमी' पड़ गया।

द्वितीय प्रकरण से षष्ट प्रकरण तक भगवान महावीर के पूर्व जन्मो की कथा है। 'मारीच' का जीव ही अत में भ० महावीर बना। मारीच ने भ० ऋषभदेव के जीवनकाल मे ही मिथ्या-मार्ग ग्रहण किया था, इससे उसे अनेक भवो मे भ्रमण करना पड़ा। इन चार प्रकरणो मे उन्ही भवो का वर्णन है।

सप्तम प्रकरण मे मारीच का जीव अच्युत-स्वर्ग से चय कर कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ मे भ० महावीर के रूप मे आषाढ़ शुक्ल ६ को आया। इससे गर्भ-कल्याणक का वर्णन इस प्रकरण मे है।

अष्टम प्रकरण मे भगवान के जन्म-कल्याणक का वर्णन है जो चैत्र शुक्ल १३ को हुआ। इद्रादि देवो की विभूति भरी सेवाओ का उल्लेख है।

नवम-प्रकरण मे सुमेरु पर्वत पर इन्द्र द्वारा भगवान के अभिषेक का वर्णन है।

दशम-प्रकरण मे उनके शैशव व बाल्य-काल का वर्णन है। इसी मे सगमदेव की सर्परूप की परीक्षा भी है और अत मे भरी उभरी जवानी मे भगवान के वैराग्य तथा गृह-त्याग की कथा वर्णित है।

एकादश-प्रकरण मे भगवान के प्रगाढ़ वैराग्य तथा बारह भावना भाने का वर्णन है।

द्वादश-प्रकरण मे तप कल्याणक का वर्णन है। तप-कल्याणक की शुभ मिती मार्गशीर्ष कृष्णा १० है।

त्रयोदश-प्रकरण मे भगवान का १२ वर्ष तक मौन रहना, ६ मास पर्यन्त अनशन करना, अनेक स्थानो पर विहार करना, उज्जैन मे 'स्थाणु' नामक रूद्र का उपसर्ग करना तथा चेटक राजा की पुत्री 'चदना' जब बंदी थी, तब उसके हाथ से आहार लेकर उसका उद्धार करना आदि वर्णित है। साथ ही अत मे जृम्भिका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के तट पर केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञान-कल्याणक का वर्णन है, जो मिती बैसाख शुक्ल १० को हुआ था।

चतुर्दश-प्रकरण मे समोशरण, मानस्तंभ आदि की रचना तथा उसके वैभव की कथा वर्णित है।

पञ्चदश-प्रकरण में दिव्य-ध्वनि न खिरने से इन्द्र द्वारा गौतम-ब्राह्मण को लाने का वर्णन है।

षोड़स-प्रकरण मे गौतम-स्वामी ने धर्म संबंध मे अनेक प्रश्न पूछे। उनके समाधान षोड़स, सप्तदश तथा अष्टादश प्रकरणो मे वर्णित है।

उनविंशति-प्रकरण मे भगवान के धर्म-प्रचार-विहार का वर्णन है। राजा श्रेणिक का भगवान के समोसरण मे आना भी उल्लिखित है। अत मे भगवान के मोक्ष-कल्याणक का वर्णन है जो मिति कार्तिक कृष्णा अमावस्या को हुआ।

अंत मे विंशति-प्रकरण मे लेखक ने ग्रथ रचना का उद्देश्य, अपनी विनय तथा अनदेखी भूलो के लिये क्षमा याचना की है।

इस प्रकार बीस-प्रकरणो मे भगवान महावीर की पूरी कथा गूथी हुई है। इसे मनन कर भव्य अपना जीवन सुधार सकते है।

मैं ऐसे समस्त सिद्धों को नमस्कार करता हूं, जो सम्यक्त्वादि अष्ट गुण सहित ।

"श्री महावीर - पुराण" के लेखक आचार्य सकलकीर्तिजी का सक्षिप्त परिचय

आचार्य सकलकीर्तिजी का जन्म वि० सवत १४४३ (ई० सन् १३८६) मे हुआ, व ५६ वर्ष की आयु मे ही वे
परमगति को प्राप्त हुए, इस प्रकार उनका देहत्याग वि० स० १४९९ को हो गया। ये णहिलपुर पट्टन के रहनेवाले थे। पिता
का नाम कर्णसिंह और माता का नाम शोभा था। इनका जन्म नाम पूरणसिंह या पूर्णसिंह था। ये हूमड जाति के थे।

५ वर्ष से इनका विद्यारभ हुआ, १४ वे वर्ष मे विवाह हुआ और सत्सगति मिलने से १८ वे वर्ष मे अर्थात्
वि० स० १४६३ मे इनने गृह-त्याग कर दिया। नेणवां मे भट्टारक पद्मनदि के शिष्य हुए। वहुत समय तक ये भट्टारक रहे,
फिर ३४ वे वर्ष मे दिगम्वराचार्य हो गये — पूर्णरूप से निर्ग्रंथावस्था मे थे।

इन्होने खूब अध्ययन किया — राजस्थानी, प्राकृत और सस्कृत भाषा के ये महान् विद्वान कहलाए। अकेले सस्कृत
मे ही इनने २९ ग्रथ रचे है — जो सभी पद्य मे है। उनमे यशोधर चरित्र, धन्यकुमार चरित्र, जम्बूस्वामी चरित्र, आदि पुराण,
उत्तर पुराण आदि प्रमुख है। राजस्थानी मे भी 'आराधना प्रतिवोध सार' आदि ८ ग्रथ रचे है। अपने समय के वे प्रकाण्ड
विद्वान थे। अनेक ग्रंथकारो ने अपने ग्रथो मे उनकी प्रशसा की है। उदाहरण के लिये "हरिवंश पुराण" (श्री ब्रह्म जिनदास
रचित) की प्रशस्ति मे इन्हे — महाकवित्वादि कला प्रवीणः तपोनिधिः सकलकीर्तिः 'निर्ग्रंथवरः प्रतापी' — कहा है।

इन्होने खूब तीर्थयात्राऐ की। स्थान-स्थान पर नव मदिर निर्माण कराये। १४ विम्व प्रतिष्ठाये करवाईं। उस
मुगल-काल में निर्भय हो कर खूब धर्म-प्रचार किया। प्रस्तुत 'श्री महावीर पुराण' इन्होने लगभग वि० स० १४७१ के
लगभग पूर्ण किया।

विषयानुक्रमणिका

२३ तीर्थंकरों को भी तीनों योग सहित बारम्बार नमस्कार करता हू।

मैं ऐसे समस्त सिद्धों को नमस्कार करता हूं, जो सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों सहित

लोक-शिखर पर विराजमान हैं।

श्री महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् श्री गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और अन्त में श्री जम्बू स्वामी—ये तीन केवलज्ञानी हुए। ये तीनों श्री महावीर स्वामी के निर्वाण होने के ६२ वर्ष पश्चात् धर्म के प्रवर्तक हुए। उनके चरण-कमलों में भक्तिभाव रखता हुआ मैं उनके गुणों की प्राप्ति की इच्छा रखता हूं। इनके सौ वर्ष बाद अङ्ग-पूर्वों के जानकार नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु स्वामी—ये पाँच श्रुत-केवली हुए। मेरा उनके चरणों में शतशः नमस्कार है। इनके १८० वर्ष के पश्चात् धर्म के प्रकाशक रत्नत्रय धारी विशाख, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, जिनसेन, विजय, बुद्धिल, गंग और सुधर्माचार्य—ये ग्यारह आचार्य हुए हैं। उनके चरण-कमलों में मैं नमस्कार करता हूं। इसके २२० वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद धर्म के प्रवर्तक नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, द्रमसेन, वाक्कंस—ये पाँच ग्यारहों अंग के जानकार हुए, मैं इनकी वन्दना करता हूं। पुनः सौ वर्ष व्यतीत होने पर सुभद्र, यशोभद्र जयबाहु, लोहाचार्य—ये चार अङ्ग के पाठी हुए। पुनः कुछ काल व्यतीत होने पर विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त—ये चार अङ्ग-पूर्व के कुछ अंशों के जानकार हुए। पर इसके पश्चात् हुण्डाव-सर्पिणी-क्षय तथा उसके विशेषज्ञों की कमी होने पर श्री भुजबली और पुष्पदन्त नामक दो मुनियों ने श्रुत विनष्ट होने के भय से शास्त्रों की रचना की, जो 'धवल-महाधवल' नाम से प्रख्यात हैं। इन्होंने अपने शास्त्रों को ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी के दिन पूर्ण किया था, इससे उस दिन का नाम श्रुतपञ्चमी पड़ा। उस दिन सब संघों ने मिल कर जिनवाणी की पूजा की थी और आज भी करते हैं। तत्पश्चात् कुन्दादि अनेक आचार्य हुए हैं। मैं गुण-प्राप्ति की आशा से उन सब की बार-बार वन्दना करता हूं।

मेरा ऐसा विश्वास है कि भगवान के मुख-कमल से प्रकट हुई विश्वपूज्या सरस्वती (वाणी) मेरी बुद्धि को निर्मल बनाने में समर्थ होगी। इसी भांति सत्य एवं श्रेष्ठ गुण-

वाले देव तथा शास्त्र और गुरुओं को नमस्कार करता हुआ श्रोता-वक्ता के लक्षणों का वर्णन करता हूं; जिससे इस ग्रन्थ की उत्तम प्रतिष्ठा हो।

वक्ता के लक्षण

जो समग्र परिग्रहों से मुक्त हों, अपनी पूजा तथा प्रसिद्धि के लिए उत्सुक न हों; अनेकान्तवाद के धारक हों; सर्व सिद्धान्तों के पारदर्शी हों; जीव के हितकारी तथा भव्य जीवों के हित में सदा लीन हों; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ही जिनके भूषण हों; शम आदि गुणों के सागर हों; निर्लोभी, निरभिमानी, गुणी एवं धर्मात्माओं से विशेष प्रेम रखनेवाले हों; अत्यन्त बुद्धिशाली, उद्यमी तथा जैन-धर्म के माहात्म्य-प्रकाशन में समर्थ हों; जिनका यश सर्वत्र विस्तृत हो; जिन्हें सब मान देते हों; वे ही सत्यवक्ता आदि गुणों के धारक, आचार्य तथा उत्तम वक्ता कहे गये हैं। इन्हीं के उपदेश श्रवण कर भव्य जीव धर्म और तप को धारण करते हैं—अन्य कुमार्गियों के वचनों की लोग उपेक्षा करते हैं। कारण कि कुमार्गी जब धार्मिक उपदेश देता है, तो स्वयं वैसा आचरण क्यों नहीं करता? अतएव शास्त्र के रचयिता और धर्मोपदेश देनेवाले में ज्ञान और आचरण दोनों ही गुण पूर्ण मात्रा में होने चाहिए।

श्रोता के लक्षण

जो सम्यग्दृष्टी, शीलव्रती, सिद्धान्त ग्रन्थों के श्रवण में उत्सुक और शास्त्रोपदेश को धारण करने में समर्थ हों; श्रीजिनेन्द्रदेव के सिद्धान्तों को माननेवाले, अर्हन्त के भक्त, सदाचारी और पदार्थ-स्वरूप के विचारक और कसौटी के सदृश परीक्षक हों। जो आचार्य के कथनानुसार शास्त्रों का अध्ययन कर, सार-असार का अन्वेषण कर सत्य ग्रहण करनेवाले हों। यदि आचार्य की कहीं भूल भी हो जाय तो उस पर हँसनेवाले न हों, ऐसे श्रोता गुणों के धारक और श्रेष्ठ कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक

श्रेष्ठ गुणों को धारण करनेवाले श्रोताओं के लक्षण दूसरे शास्त्रों से जानना चाहिए।

श्रेष्ठ कथा लक्षण

जिस कथा तथा उपदेश में जीवादि सप्त तत्वों का पूर्ण रूप से विवेचन किया गया हो; जहां संसार-देह-भोगों से अन्त में वैराग्य बतलाया गया हो; जिसमें दान, पूजा, तप, शील व्रतादि एवं उसके फल तथा बंध मोक्ष का स्वरूप एवं कारण बताये गये हों। वस्तुतः धर्म की माता जीवदया है। उसके प्रसाद से भव्य जन समस्त परिग्रहों का परित्याग कर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करते हैं। ऐसी जीवदया का वर्णन जिस कथा में पूर्ण रूप से किया गया हो; जिस उपदेश में महान पदवी को धारण करनेवाले मोक्षगामी त्रेसठशलाका पुरुषों के चरित्र एवं उनकी विभूतियों का विस्तृत वर्णन हो, साथ ही उन महापुरुषों के पूर्व जन्मों की कथायें तथा उनके पूर्व कर्मों के फल आदि का वर्णन हो, वह श्रेष्ठ कथा कल्याणकारिणी 'धर्म कथा' कही जाती है। वही सत्य कथा है, जो पूर्वापर विरोधी नहीं है और जो जिनसूत्र पर आधारित है। इसके अतिरिक्त अन्य श्रृङ्गारादि रसों को प्रकट करनेवाली पापकारिणी कथा स्वप्न में भी शुभ करनेवाली नहीं हो सकती। इस प्रकार वक्ता-श्रोता और कथा के लक्षणों का संक्षेप में विवेचन कर अब मैं श्री महावीर भगवान के परम निर्मल चरित्र का वर्णन करता है, जो सदा पुण्य का कारण और पाप का नाशक है। केवल यही नहो, यह कथा वक्ता तथा श्रोता दोनों का हित करनेवाली है। इस चरित्र को श्रवण कर भव्य जीव पुण्य का संग्रह करते हैं। उनके पाप का विनाश होता है और उन्हें दुःखरूपी संसार से मुक्ति प्राप्त होती है।

इस प्रकार अपने इष्टदेवों के चरण-कमलों में नत होकर तथा वक्ताओं के स्वरूप का वर्णन कर श्री जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न धर्म-प्रवर्तक अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर स्वामी की निर्मल कथा आरम्भ करता हूं, जो कर्मरूपी शत्रुओं को पराजित करने में सहायक होगी। अतएव भव्य जनों को चाहिए कि वे सावधानी पूर्वक इस

अमृतरूपी कथा को श्रवण करें।

द्वितीय प्रकरण

कथा आरम्भ

असंख्य द्वीपसमुद्रों से घिरे हुए इसी मध्यलोक में जामुन के वृक्षों से चिह्नित जम्बू नाम का एक द्वीप है। उस जम्बूद्वीप के मध्य में विस्तृत और उच्च सुमेरु नाम का पर्वत है। यह सुमेरु पर्वत देवों में श्रेष्ठ तीर्थंकरों के सदृश पर्वतों में मुख्य है। उस पर्वत की पूर्व दिशा की ओर पूर्व विदेह क्षेत्र है। वह क्षेत्र धर्मात्माओं से तथा श्री जिनेन्द्रदेवों के समोशरणों से सुशोभित है। वहां अनन्त मुनि तपस्या पूर्वक विदेह (मुक्त) हो गये हैं। इसी गुण के कारण इसका नाम 'विदेह' पड़ा। इस क्षेत्र की सीता नदी के उत्तर भाग में पुष्कलावती नाम का एक विस्तृत देश है। वहां तीर्थंकरों के चैत्यालय ऊँची-ऊँची ध्वजाओं से सुशोभित हो रहे हैं। इस स्थल पर चारों प्रकार के संघों से युक्त गणधरादि देव सत्य धर्म की वृद्धि के लिये विचरण करते हैं। अतएव वहां किसी पाखण्डी वेशधारी का निवास नहीं है। यहां श्री अर्हन्त भगवान के मुखकमल से प्रकट अहिंसा प्रधान धर्म विस्तृत है। उसे यति (मुनी) और श्रावक सर्वदा धारण करते रहते हैं। अतएव उस नगरी में जीवों को पीड़ा पहुंचानेवाला एक भी व्यक्ति नहीं है; अर्थात् सभी धर्म का पालन करते हैं। जिस स्थान पर ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से भव्य जन ग्यारह अंग, चौदह श्रुतपूर्व का सदा अध्ययन और मनन करते हैं, जिससे अज्ञान का विनाश होता है; पर वे कुशास्त्रों का स्वप्न में भी अध्ययन नहीं करते। इस देश में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये तीन वर्ण की प्रजा सदा सुखी रहती है। वे सदा धर्म में तत्पर और अत्यन्त भाग्यशाली हैं। यह क्षेत्र असंख्य तीर्थंकरों, गणधरों, चक्रवर्तियों और वासुदेवों की जन्मभूमि है और देवों द्वारा सदा से पूज्य है; जहां मनुष्यों का शरीर ५०० धनुष (दो

हजार हाथ ऊँचा) और परमायु एक करोड़ पूर्व की है। वहां सदा चतुर्थ काल का वातावरण रहता है। जिस स्थल में उत्पन्न हुए महापुरुष तपश्चरण के द्वारा स्वर्ग मे अहमिन्द्र-पद एवं मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करते हैं, अर्थात् वहां पर सभी कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं, उसी देश में पुण्डरीकिनी नाम की बारह योजन लम्बी और नव योजन चोड़ी एक नगरी है। वह एक हजार बड़े दरवाजों से युक्त तथा पांच सौ छोटे दरवाजों से वेष्टित है। यहां महान पुण्यवान ही जन्म लेते हैं। उस नगरी में जिन मन्दिरों की ध्वजायें ऐसी शोभित हैं, मानो वे स्वर्गवासियों को आह्वान कर रही हों। नगर के बाहर मधुक नाम का एक बड़ा-सा वन है, देखने में वह अत्यन्त रमणीक है। वहां ध्यान में लीन हुए मुनिराज विराजमान हैं। इसलिए इस वन की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता।

किसी समय उस वन में भीलों का एक राजा था, जिसका नाम पुरुरवा था। वह अत्यन्त भद्र परिणामी था। उसकी कालिका नाम की रानी थी। वह अत्यन्त कल्याण-कारिणी थी। एक दिन उस वन में जिनदेव की वन्दना के लिए सागरसेन मुनि का आगमन हुआ। पुरुरवा ने मुनीश्वर को दूर से देख कर तथा उन्हें हिरन समझ कर मारने की इच्छा की। किन्तु उसके पुण्योदय से उस भीलराज की रानी ने उसे मुनीश्वर को मारने से मना किया और कहा—स्वामिन्! संसार के कल्याण के उद्देश्य से यह वन-देवता भ्रमण कर रहे हैं। अतः इनकी हत्या कर पाप के भागी मत बनो। अपनी प्यारी पत्नी की बातें सुन कर उस भील को ज्ञान हो आया। वह प्रसन्नचित्त हो मुनि के समीप गया और बड़ी भक्ति के साथ उनके चरणों मे अपना मस्तक झुकाया। धर्मात्मा मुनीश्वर ने भी उसे धर्मोपदेश देते हुए कहा—हे भद्र! श्रेष्ठ धर्म को प्रकट करनेवाले मेरे वचनों का श्रवण करो। जिस धर्मके पालनसे त्रैलोक्य की लक्ष्मी अनायास प्राप्त होती है, चक्रवर्ती तथा इन्द्रादि पदों की प्राप्ति भी उसी धर्मके प्रभावसे हुआ करती है। उस धर्म का प्रभाव ऐसा है कि मनोवांछित सारी सम्पदायें और लौकिक सुख प्रदान करनेवाले कल्पवृक्ष की

प्राप्ति बड़ी सफलता से होती है। वह धर्म मद्य-मधु-मांसके त्याग करनेसे, पञ्च उदम्बरों के ग्रहण न करनेसे तथा सम्यक्त्वके सहित अहिंसादि पञ्च अणुव्रतोंके पालन करनेसे प्राप्त होता है। तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत अर्थात् १२ व्रत एकदेश गृहस्थोंके लिए है। इसके समुचित पालनसे स्वर्गादिक सुखों की उपलब्धि हुआ करती है। इस प्रकार मुनीश्वर के अमूल्य धर्मोपदेश सुन कर वह भीलों का स्वामी मद्य-मांसादिक परित्याग कर उनके चरणोंमें नत हुआ तथा धर्म-प्राप्ति की आशासे उसने उसी समय बारह व्रतों को धारण कर लिया। आचार्य महाराज का कथन है कि इस धर्म की प्राप्तिसे शास्त्राभ्यास, विद्वानों की संगति, निरोगता, सम्पन्नता—ये समस्त वैभव प्राप्त होते हैं। पश्चात् उस भील ने मुनि को पथ दिखला दिया। भील अत्यन्त प्रसन्नताके साथ अपने घर को लौटा। उसने जीवन पर्यन्त उक्त व्रतों का पालन किया और अन्तमें समाधि-मरण करके व्रतसे उत्पन्न हुए पुण्योदय से वह भील सौधर्म नामक महाकल्प विमान में महाऋद्धिधारी देव हुआ। उसकी आयु एक सागर की हुई। उसने अन्तर्मुहूर्तमें नवयौवन अवस्था को धारण किया। उसने अवधि-ज्ञानसे अपने पूर्व जन्म का समस्त वृत्तान्त जान लिया। इससे जैन-धर्म में उसकी निश्चल भक्ति हो गई। अतः वह धर्म की सिद्धिके लिए जिन चैत्यालयोंमें जाकर सर्वदा भगवान की पूजा किया करता था। वह अपने परिवार वर्ग के साथ आठ प्रकार के द्रव्यों से चैत्य-वृक्षों में स्थित तीर्थङ्करों की पूजा कर नन्दीश्वरादि द्वीपोंमें जाकर केवलज्ञानी गणधरादि महात्माओं की भक्ति के साथ पूजा करता था। गणधरों द्वारा दोनों प्रकारके धर्मोपदेश सुन कर उसने महान् पुण्य का उपार्जन किया। इस प्रकार वह देव पुण्य उपार्जन कर अपने स्थान को लौटा। वह सदा महल, सुमेरु पर्वत और वनों में जाकर किन्हीं स्थानों पर देवांगनाओं का नृत्य देखता, किन्हीं स्थलों पर मनोहर गाने सुनता और कहीं क्रीड़ा करता रहता। इस भांति पूर्व पुण्यके प्रभाव से उसे समग्र भोगों की उपलब्धि हुई। उसका शरीर सात हाथ ऊँचा था और सप्त धातु से रहित था। वह

मति, श्रुति, अवधि–तीनों ज्ञानों से विभूषित था। आठों ऋद्धियों से युक्त वह देव इन्द्रियजन्य सुख में निमग्न रहने लगा।

भरत क्षेत्रमें कोशल नाम का एक देश आर्यखण्डके मध्य भागमें है। उसे आर्य जनों की मुक्ति का कारण बतलाया गया है। वहां उत्पन्न हुए भव्य जन व्रतादि धारण कर कोई तो मोक्ष प्राप्त करते हैं, कोई नव ग्रैवेयक एवं सोलहवें स्वर्ग मे जन्म लेते हैं, कोई जिनदेव के भक्त सौधर्मादि स्वर्ग के इन्द्र पदवाच्य भी होते हैं। यही नहीं, यहां के लोग सुपात्र को दान देनेके कारण भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं और कोई-कोई तो पूर्व-विदेह में जन्म धारण कर राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते है। इस स्थान पर संसारपूज्य केवली मुनिगण धर्मोपदेश करते हुए चार प्रकार के संघों के साथ विहार किया करते हैं। यह देश ग्राम, पत्तन, ऊँची नगरी तथा बड़े-बड़े ऊँचे भव्य जिन मन्दिरोंसे शोभायमान था। यहां की वनस्थली ध्यानारूढ़ योगियों से सदा भरपूर रहती थी और नवीन फल-फूलों से सदा लदी रहती थी। उस देश के मध्य अयोध्या नाम की नगरी थी। वहां भव्य पुरुषों का निवास था। अतएव जैसा रमणीक उसका नाम था, वैसी ही गुण को धारण करने-वाली नगरी थी।

इस नगरी का निर्माण इन्द्र ने श्री आदिनाथ तीर्थङ्कर के जन्म के लिए किया था। वह नगरी स्वर्ण, रत्नमय चैत्यालयों से शोभायमान थी अयोध्या में ऐसे ऊँचे-ऊँचे कोट और दरवाजे थे, जिसे शत्रु भी नहीं लांघ सकते थे। उस नगरी की लम्बाई बारह और चौड़ाई नव योजन की थी, जो देवों को बड़ी ही प्रिय थी। इस नगरी की सुन्दरता का वर्णन वचनों द्वारा नहीं किया जा सकता। यहां के विशाल भवनों में निवास करनेवाले दानी, धर्मात्मा, पुण्य उपार्जन करनेवाले, अत्यन्त धनाढ्य पुरुष थे। उनके गुणों की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना मात्र है। वे सर्वगुण-सम्पन्न विमानों में देवों के समान और वहां की नारियां देवियों के समान सुखोपभोग करती थीं। जिस अयोध्या में देवगण भी मोक्ष-प्राप्ति के

उद्देश्य से जन्म धारण करने को ललचते हैं, भला ऐसी स्वर्ग-मोक्ष प्रदान करनेवाली नगरी की प्रशंसा यह तुच्छ लेखनी क्या कर सकती है? जिस नगरी का स्वामित्व आदि-धर्म-प्रवर्तक श्री ऋषभदेव के पुत्र राजा भरत के अधिकृत था, जहां भरत चक्री के चरण-कमलों की अकम्पनादि राजा, नमि आदि विद्याधर, मगध आदि देव सदा वन्दना किया करते थे, ऐसे छः खण्ड के स्वामी चरम-शरीरी पुण्यवान को सुख प्रदान करनेवाली धारिणी नाम की पटरानी थी। वह सुन्दरी अपूर्व गुणवती थी। इन दोनों के यहां वह देव (पुरुरवा भील का जीव) स्वर्ग से चय कर अनेक गुणों से सम्पन्न मरीचि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ! वह क्रम से बढ़ने लगा। जब उसकी अवस्था कुछ अधिक हुई तब अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर अपने योग्य सम्पत्ति की उपलब्धि कर वनादि में क्रीड़ा रत हुआ।

एक समय की घटना है कि श्री ऋषभदेव को देवांगनाओं के नृत्य देख कर भोगों से सर्वथा विरक्ति उत्पन्न हो गई। वे पालकी में सवार होकर लौकान्तिक देवों को साथ लेकर वन में पहुंचे। उन्होंने वहां जाकर वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर मोक्ष-मार्ग-प्रतिपादक तप धारण किया। ठीक उसी समय स्वामीभक्त कच्छ आदि चार सहस्र राजाओं ने नग्न-भेष-रूपी द्रव्य-संयम को धारण किया, किन्तु उनके चित्त में चारित्र धारण करने की संयमपूर्ण भावना नहीं थी। परन्तु श्री ऋषभदेव ने देह की ममता का परित्याग कर सुमेरु पर्वत जैसे निश्चल हो कर्मरूपी शत्रुओं को परास्त करने के लिए छः मास की परम समाधि लगा ली।

पश्चात् कच्छ, मरीचि आदि ने भूख-प्यास आदि कठिन परीषहों का कुछ दिनों तक स्वामी के साथ सहन किया, परन्तु आगे चल कर उन्होंने अपने को इस महान कार्य में असमर्थ पाया। क्लेश के भार से दबे हुए वे परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप करने लगे—देखो, यह जगत् का स्वामी वज्रशरीरी न जाने कब तक इस प्रकार खड़ा रहेगा? हमें तो इसके साथ रहने में प्राण नष्ट होने का भय मालूम होता है। क्या हम इसकी बराबरी कर प्राण

मति, श्रुति, अवधि—तीनों ज्ञानों से

त्याग करेंगे ? इस प्रकार वार्तालाप कर वे भगवान श्री ऋषभदेव को नमस्कार कर दूसरी ओर चले गये। क्योंकि उन्हें घर लोटने मे राजा भरत का भय था, इसलिए उन्होंने पापोदय के प्रभाव से फल खाना आरम्भ कर दिया। उन राजाओं की देखादेखी वह मरीचि भी वैसा ही करने लगा, किन्तु उन्हें इस प्रकार नीच कर्म करते हुए देख कर उस वनके देव ने कहा—अरे धूर्तो ! तुम मेरी बातों को सुनो। इस पवित्र मुनि-वेश में जो लोग निन्द्य कर्म करते हैं, वे पाप के उदय से नरकरूपी समुद्र में जा गिरते हैं। वस्तुतः गृहस्थ अवस्था में किये हुए पापों की जिन-लिंग अर्थात् मुनि अवस्था में निवृत्ति हो जाती है; पर यदि मुनि-वेश मे पाप किया जाय, तो उससे छुटकारा पाना अत्यंत कठिन ही नहीं, वरन् असंभव है। अतएव तुम लोग इस वेश का परित्याग कर कोई दूसरा वेश ग्रहण करो, अन्यथा मुझे बाध्य हो तुम्हें दण्ड देना पड़ेगा। देव की ऐसी फटकार सुन कर मुनि वेशधारी पाखंडियों को बड़ा भय हुआ। उन्होंने मुनि-वेश त्याग कर जटा-जूट आदि वेश धारण कर लिये। भरत-पुत्र मरीचि ने भी तीव्र मिथ्यात्व कर्म के उदय से मुनि-वेशका परित्याग कर सन्यासी का वेश धारण कर लिया। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि अब परिव्राजक मतों के शास्त्रों की रचना करने में समर्थ हुई। ठीक ही है; जैसी होनी होती है, वह होकर ही रहती है। उसके लिए किसी प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ सिद्ध होता है।

तीनों जगत के पूज्य श्री ऋषभदेव पृथ्वी पर विहार करने लगे। वे उसी वन में एक हजार वर्ष तक मौन साध कर सिंह के समान निश्चल रहे। तीर्थंकर राजा ने अपने ध्यान रूपी खड्ग से, संसार-हितकारी केवलज्ञान रूपी राज्य को स्वीकार किया अर्थात् वे केवल-ज्ञानी हो गये। ठीक उसी समय यक्षादि गणों ने बारह कोठोंवाले सभामण्डप की रचना की, जिसमें संसार के सभी जीव आ जायें; साथ ही इन्द्रादिक देवों ने भी अपनी विभूति और देवांगनाओं के साथ आकर अष्ट-द्रव्य से भक्तिपूर्वक प्रभु की पूजा की, किन्तु संयोगवश वे

दूसरी तरफ कच्छादि पाखण्डी राजा गण भगवान श्री ऋषभदेव से बन्ध-मोक्ष का स्वरूप सुनकर वास्तव में निर्ग्रन्थ भावलिंगी हो गये, किन्तु मरीचि ने अपने मन में ऐसा विचार किया कि जैसे तीर्थनाथने गृहादि का परित्याग कर तीनों जगत् को आश्चर्य में डालनेवाली अपूर्व शक्ति प्राप्त की है, उसी प्रकार मैं भी अपने मत का प्रसार कर अपूर्व क्षमताशाली हो सकता हूं। वस्तुतः मैं भी जगद्गुरु हो सकता हूं। मेरी यह इच्छा अवश्य पूर्ण होगी। इस प्रकार मान-कषाय के उदय से वह अपने स्थापित मिथ्या मत से किंचित भी विरक्त नहीं हुआ। वह पापात्मा मूर्ख मरीचि त्रिदण्डी का वेश धारण कर कमण्डलु हाथ में लेकर अपने शरीर को कष्ट देने में तत्पर हुआ। वह प्रातःकाल ठण्डे जल से स्नान कर कन्द-मूलादि का भक्षण करता था। उसने वाह्य परिग्रहों के त्याग से अपने को सर्वत्र प्रसिद्ध किया। उसने शिष्यों को बताया कि सत्य मत इन्द्रजाल के समान हैं; किन्तु मिथ्या मार्ग का अग्रणी वह भरत-पुत्र मरीचि आयु पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ तथा अज्ञान तप के प्रभाव से ब्रह्म नाम के पांचवें स्वर्ग में देव हुआ। वहां उसे दश सागर की आयु मिली, उसे भोग्य सम्पदाएं भी प्राप्त हुईं। देखो, जब मिथ्या तप के प्रभाव से स्वर्गकी प्राप्ति होती है, तब सत्य तपके फल का क्या कहना ? अर्थात् उससे अपूर्व फल मिलेगा ही।

उसी अयोध्या नगरी में ही कपिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम काली था। मारीचि का जीव स्वर्ग से चय कर उन दोनों के घर जटिल नाम का पुत्र हुआ। पूर्व के संस्कारों के वश उसे वही मिथ्या मार्ग सूझा। वह सन्यासी होकर उसी कल्पित मिथ्या मार्ग का प्रचार करने लगा। उसे मूर्खजन नमस्कार भी करते थे, पर पुनः आयु क्षय होने पर मृत्यु प्राप्त कर काय-क्लेश तप के प्रभाव से वह सौधर्म नामक पहले स्वर्ग का देव हो गया। उसे यहां पर दो सागर की आयु प्राप्त हुई और थोड़ी-सी विभूति भी उसे मिली। अत्यंत आश्चर्य की बात है कि जब मिथ्यादृष्टि पुरुषों का निकृष्ट तप भी निष्फल नहीं हो पाता, तब सु-तप की तो बात ही क्या ?

अयोध्यापुरी में ही स्थूणागार नामक नगर में भारद्वाज नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पुष्पदन्ता नाम की अत्यन्त रूपवती पत्नी थी। उक्त देव सौधर्म-स्वर्ग से चय कर उन दोनों के यहां पुष्पमित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यहां भी उसने पूर्व संस्कार के वश कुशास्त्रों का ही अध्ययन किया और पुनः मिथ्यात्व कर्मों के उदय से मिथ्या मत में ही लीन हुआ। इसलिए वह पूर्व भेष को ग्रहण कर सांख्य मत के अनुसार प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्वों का उपदेश करने लगा। वह मिथ्यामति मन्द कषाय से देवायु को बांध मृत्यु को प्राप्त कर उसी सौधर्म-स्वर्ग में पुनः देव हुआ। उसकी आयु एक सागर वर्ष की हुई तथा वह भोग्य सम्पदा से सम्पन्न हुआ।

भरतक्षेत्र में ही श्वेतिक नामक नगर में एक ब्राह्मण रहता था, जिसका नाम अग्निभूत था। उसकी पत्नी का नाम गौतमी था। सौधर्म स्वर्ग का वह देव स्वर्ग से चय कर अग्निभूत ब्राह्मण के यहां अग्निसह नामक पुत्र हुआ। वह एकान्त मत के शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता हुआ, किन्तु पूर्व कृत कर्मोदय के प्रभाव से उसने पुनः परिव्राजक दीक्षा धारण की। पश्चात् आयु क्षय होने पर उसकी मृत्यु हो गई। पूर्व के अज्ञान-तप के प्रभाव से वह सनत्कुमार नामक तृतीय स्वर्ग में देव हुआ और सुख-सम्पदा से सम्पन्न उसे सात सागर की आयु प्राप्त हुई।

उक्त क्षेत्र में मन्दिर नामक एक श्रेष्ठ नगर था। वहां गौतम नाम का एक ब्राह्मण रहता था। सनत्कुमार स्वर्ग का वही देव वहां से चय कर गौतम का पुत्र अग्निभूत हुआ। पूर्व जन्म के संस्कारों के वश उसने मिथ्या-शास्त्रों का ही अध्ययन किया। अन्त में उसने त्रिदण्डी दीक्षा धारण की और आयु की समाप्ति पर मृत्यु प्राप्त कर अज्ञान तप के प्रभाव से माहेन्द्र नामक पांचवें स्वर्ग में देव हुआ एवं योग्य आयु-सम्पदा का उपभोग करने लगा।

उक्त मन्दिर नामक नगर में ही सांकलायन नामक ब्राह्मण निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम मन्दिरा था। उपरोक्त माहेन्द्र स्वर्ग का देव वहां से चय कर सांकलायन के यहां भारद्वाज नामक पुत्र हुआ। वह पूर्व जन्म के संस्कारों से बंधा तो था ही। इस बार भी

उसने मिथ्या शास्त्रों का ही अभ्यास किया। कुछ समय के पश्चात् उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, किन्तु उसने पूर्व की भांति त्रिदण्डी दीक्षा ही ग्रहण की और देवायु का बंध कर मृत्यु प्राप्त की। तप के प्रभाव से उसे पांचवें स्वर्ग में देव योनि की प्राप्ति हुई, किन्तु वहां से चय कर उसे निम्न योनियों मे आना पड़ा। वह असंख्य वर्षों तक निन्दनीय त्रस-स्थावर योनियों में भटकता हुआ दुःख पाता रहा। आचार्यों का कथन है कि मिथ्यात्व के फल से प्राणिवर्ग को महान क्लेशों का सामना करना पड़ता है।

वस्तुतः आग में कूद पड़ना, हलाहल (विष) का सेवन करना, समुद्र में डूब कर मृत्यु प्राप्त कर लेना उत्तम है, किन्तु मिथ्यात्व सहित जीवित रहना कदापि उचित नहीं। सिंह आदि हिंसक जीवों की संगति प्राप्त कर लेना कुछ अंश तक ठीक भी है, पर मिथ्यादृष्टि जीवों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना तो बड़ा ही कष्टप्रद है। कारण, हिंसक जीव तो एक जन्म में ही दुःख देते हैं, पर मिथ्यात्व का प्रभाव जन्म-जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ता। बुद्धिमान पुरुषों का कथन है कि मिथ्यात्व और हिंसादिक पापों की तुलना की जावे, तो मेरु और राई के समान अन्तर मालूम होगा। अतएव यदि कहीं प्राण जाने का भी भय हो तो भी भव्य जीवों को मिथ्यात्व का सेवन नहीं करना चाहिए। प्रत्यक्ष है कि मरीचि के जीव को मिथ्यात्व के प्रभाव से, केवल क्षणिक सुख की आशा से, कठिन से कठिन दुःख भोगने पड़े। अतः यदि तुम शाश्वत सुख की आकांक्षा रखते हो तो मिथ्यात्व का परित्याग कर सम्यक्त्व ग्रहण करो।

तृतीय प्रकरण

जिनके शुद्ध असीम गुण; तीन भुवन में व्याप्त ;
उन प्रभुका वन्दन करूँ, हों गुण मुझको प्राप्त।

जिनके अनंत गुण सर्व प्रकार की बाधा से रहित होकर समग्र संसार में विचरण कर रहे हैं, इन्द्रादि देवगण भी जिनकी आराधना करते हैं, उन वीतराग प्रभुके गुणों की प्राप्ति के लिए मैं बन्दना करता हूं।

मगध देश में राजगृह नाम का एक विख्यात नगर है। उस नगर में शांडिल्य नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम पारासिरी था। उसके गर्भ से उसी मरीचि के जीव का पुनर्जन्म हुआ। उसका नामकरण 'स्थावर' हुआ। वह वेद-वेदांग इत्यादि मिथ्या शास्त्रों का पण्डित हुआ। उसी प्रकार पूर्व के मिथ्या संस्कार के वश उसने परिव्राजक अर्थात् त्रिदण्डी दीक्षा ग्रहण की। उसने तप आदि भी किये। उसी कुतप के फल से मृत्यु होने पर वह माहेन्द्र स्वर्ग मे देव हुआ, उसकी आयु सात सागर की हुई और वह थोड़ी सम्पदा का उपभोगी हुआ। उसी नगर मे विश्वभूति नाम का राजा था, जिसकी रानी का नाम खोजन जैनी था। पुनः वही माहेन्द्र स्वर्ग का देव खोजन रानी के गर्भ से विश्वनन्दी नामक पुत्र हुआ। वह बड़ा पुरुषार्थी और शुभ लक्षणों वाला था। विशाखभूति राजा का छोटा भाई था। उसकी लक्ष्मणा नाम की पत्नी थी। उसके विशाखानन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक समय की घटना है कि शरद ऋतु के बादलों को देख कर राजा विश्वभूति को एकाएक वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपने मनमें विचार किया कि कैसी आश्चर्य की बात है कि ये बादल क्षणभरमें ही विलीन हो गये। इसी प्रकार मेरी आयु और यौवन आदि सारी सम्पदायें भी नष्ट हो जायेंगी, इसमें सन्देह नहीं। अतएव शरीर क्षीण होने के पूर्व ही मोक्ष प्राप्ति के लिए बराबर तप करना चाहिए। ऐसा विचार वह राजा सांसारिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो कर दीक्षा धारण करने के लिए प्रस्तुत हो गया।

वैराग्य भावना के उग्र होते ही एक दिन उसने अपना राज्य छोटे भाई को सौंप दिया तथा अपने पुत्र को युवराज पद दे दिया। इसके पश्चात् अपने गृह से निकल कर वह विश्व-वंदनीय श्रीधर मुनि के समीप गया और उनसे दीक्षा ले ली। उसने वाह्य-आभ्यन्तर समस्त परिग्रहों का परित्याग कर अन्य तीन सौ राजाओं के साथ मन, वचन, काय की शुद्धता से मुनीश्वर पद प्राप्त किया। उस संयमी ने ध्यानरूपी तलवार से नाम और मोहरूपी कर्म

को परास्त कर अन्य कर्म-नाश के उद्देश्य से तप आरम्भ किया।

किसी सुखद ऋतु के समय युवराज विशाखभूति अपनी रानियोंके साथ क्रीड़ा कर रहा था। इतने में ही विशाखनन्द वहां पहुंच गया। लौट कर उसने अपने मन की बात राजा विशाखभूति से कही कि यदि विश्वनन्दी का बगीचा उसे नहीं मिला, तो वह घर से निकल जायगा। पुत्र की ऐसी बात सुनकर राजा ने कहा—बेटा, धैर्य रख, मैं शीघ्र ही उस बगीचे को तुझे दिलवाने का प्रयत्न करूँगा। एक दिन राजा ने विश्वनन्दी को बुलाकर कहा—यह राज्य-भार मैं तुम्हें सौंपता हूँ। आज से मैं अन्यान्य राजाओं द्वारा किये गये उपद्रवों को शान्त करने के प्रयत्न में लगूंगा। मुझे उनपर आक्रमण करना पड़ेगा। किन्तु विश्वनन्दी ने उत्तर दिया—पूज्य, आप शान्तिपूर्वक यहां निवास करें, मैं स्वयं उन उपद्रवियों को परास्त करूँगा। इस प्रकार राजा की आज्ञा लेकर विश्वनन्दी अपनी पूरी सेना लेकर चल पड़ा। इधर राजा विशाखभूति ने अपने पुत्र को विश्वनन्दी का बगीचा सौंप दिया। आचार्य का कहना है कि ऐसे मोह को धिक्कार है, जिसके लिए मनुष्य को अशुभ से अशुभ कार्य करने पड़ते हैं। जब बगीचे के रक्षक द्वारा भेजे गये दूत से यह समाचार विश्वनन्दी को मिला, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा—आश्चर्य है, चाचा ने मुझे दूसरी ओर भेज कर मेरे प्रति विश्वासघात किया है। चाचा का यह कार्य प्रेम और सद्भाव में बाधा पहुंचाने वाला है।

वस्तुतः वह कोन-सा बुरा कार्य है, जिसे मोही पुरुष नहीं करते? इस प्रकार अपने चाचा के प्रति विश्वनंदी की दुर्भावना बढ़ती ही गई। वह विशाखनन्द को मारने के लिए तत्पर हो गया और क्रोध से तमतमाता हुआ अपने बगीचे की ओर गया। जब यह समाचार विशाखनन्द को मिला, तो वह भयभीत होकर वृक्षों की आड़ में छिप गया; किन्तु वहां भी उसके प्राण संकट में पड़ गये। विश्वनदी ने एक वृक्ष को उखाड़ लिया एवं उसे लेकर उसे मारने के लिए दौड़ा। विशाखनन्द भागता हुआ एक बड़े खंभे की आड़ में जा छिपा।

आचार्यगण कहते हैं—अन्याय करनेवाले क्या कभी विजयी हो सकते हैं ? उस बलवान विश्वनन्दी ने उस स्तम्भ को मुष्टिकाघात से चूर्ण-विचूर्ण कर दिया एवं विशाखानन्द को परास्त कर दिया।

पर थोड़ी देर बाद जब पराजित विशाखनन्द को दीन की भांति देखा, तब विश्वनन्दी के मन में दया का भाव उदय हो आया। उसने सोचा—धिक्कार है, इस जीवन को ! जिसमें अपने भोगों के लिए भाई की भी हत्या करने के लिए मनुष्य तैयार हो जाता है ! यदि इन अगणित भोगों से तृप्ति नहीं मिली, तो भला इस नगण्य भोग के लिये अपने भाई का वध करने से क्या लाभ ? ये भोग मान भंग करने वाले होते हैं। अतः स्वाभिमानी पुरुष को इनकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। ऐसा विचार कर विश्वनन्दी ने उस बाग को विशाखनन्द को दे दिया। उसे तो एक प्रकार से वैराग्य हो गया था। वह राज्य-सम्पदा को त्याग कर श्री सम्भूत गुरु के समीप गया। मुनि के चरण-कमल को नमस्कार कर समस्त परिग्रहों का त्याग किया एवं दीक्षा धारण कर ली। यहां विचारणीय यह है कि किन्हीं विशेष स्थलों पर नीच पुरुषों द्वारा किया गया अपकार भी सज्जनों का महान उपकार कर देता है।

समय पाकर विशाखभूति राजा को भी अपने दुष्कृत्यों पर महान् पश्चात्ताप हुआ। वह सांसारिक भोगों से विरक्त हो गया। उसने मन-वचन-काय से परिग्रहों का परित्याग कर जिन-दीक्षा धारण कर ली। वह निष्पाप होकर कठोर तप करने में संलग्न हो गया। अपनी शक्ति के अनुसार अधिक काल तक शुद्ध आचरण करते हुए मृत्यु के समय उसने सन्यास धारण कर लिया तथा इसी के परिणामस्वरूप वह महाशुक्र नामक स्वर्ग में विशाखभूति नामक महान ऋद्धिधारी देव हुआ।

इधर विश्वनन्दी मुनि होकर अनेक ग्राम वनादिकों का भ्रमण करने लगे। पक्ष, मास आदि के अनशन से उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका था। उनके ओठ-मुख आदि अङ्ग

गल गये थे। एक दिन ऐसी अवस्था में मुनि विश्वनन्दी ने ईर्यापथ दृष्टि से मथुरा नगरी में प्रवेश किया। बुरे व्यसनों से राज्यभ्रष्ट हो विशाखनन्द भी किसी का दूत बन कर इसी समय उसी नगर में आया हुआ था। एक वेश्या से उसका सम्पर्क हो गया था। एक दिन वह उस वेश्या की हवेली पर बैठा हुआ था। नीचे से जाते हुए विश्वनन्दी मुनि पर उसकी नजर पड़ी। इधर क्या हुआ कि एकाएक एक बछड़े ने अपनी सींग से उन्हें धक्का दे दिया, तो वे जमीन पर गिर पड़े। उन्हें गिरते हुए देखकर विशाखनन्द ठहाका मार कर हँसने लगा एवं बड़े ही कठोर शब्दों में बोला—मुनि, तेरा पूर्व का बल पराक्रम कहां चला गया? आज तो तू शक्ति हीन, दुर्बल शरीर वाला, मुर्दे की भांति दिखाई देता है।

विशाखनन्द के ऐसे दुर्वचन सुन कर मुनि को क्रोध उत्पन्न हो गया। नेत्र लाल कर अंतरंग में ही कहा—रे दुष्ट! मेरे तप के प्रभाव से तुझे अवश्य ही इस हँसी का फल मिलेगा। यही नहीं, तेरे मृत्यु का ही नाश निश्चित है। इस प्रकार उसके विनाश करने की भावना से प्रेरित हो उसकी निन्दा की। ऐसा निदान बन्ध कर के मुनि ने समाधि-मरण पूर्वक प्राण त्याग किया। इस तप के प्रभाव से दसवें स्वर्ग में उसी स्थान पर वह देव हुआ, जहां विशाखभूति देव हुआ था। यहां उसे सोलह सागर की आयु प्राप्त हुई। उन दोनों देवों ने उत्तम सप्त धातु रहित शरीर को धारण किया। वे विमानों में बैठ कर सुमेरु पर्वत तथा नन्दीश्वरादि द्वीपों में जिनेन्द्र देव की भक्ति-भाव से पूजा करते थे तथा भगवानके गर्भ-कल्याणक में भी जाते थे। अपने पूर्वार्जित तप के प्रभाव से वे अपनी २ देवियों के साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

इसी जम्बूद्वीप के सुरम्य देश में पोदनपुर नाम का एक विशाल नगर है। वहां के प्रजापालक राजा का नाम प्रजापति था। उनकी रानी थी जयावती। रानी के गर्भ से विशाखभूति राजा का जीव स्वर्ग से चय कर विजय नाम का बलभद्र हुआ और उसी राजा की दूसरी रानी मृगावती के गर्भ से विश्वनन्दी का जीव स्वर्ग से चय कर त्रिपृष्ट नाम का महा

बलवान नारायण हुआ। वे दोनों ही भाई चन्द्रमा के वर्ण की भांति शुभ्र कान्तिवाले थे। वे शास्त्रज्ञ, अनेक कलाओं में निपुण, न्याय मार्ग में लीन थे तथा भूमिगोचरी, विद्याधर एवं देवों द्वारा पूजनीय थे। उनकी अवस्था चन्द्र कला की भांति क्रम से बढ़ने लगी। वे दोनों ही भाई सूर्य के समान प्रभाव शाली हुए।

भरत क्षेत्र के अन्तर्गत ही विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलका नाम की पुरी है। वहां के राजा थे मयूरग्रीव तथा रानी थी नीलंजना। दुष्ट विशाखनन्द का जीव संसार-समुद्र में भटकता हुआ पूर्वोपार्जित पुण्योदय के कारण नीलंजना के गर्भ से अश्वग्रीव नामक पुत्र हुआ। वह तीन खण्ड पृथ्वी का अधिपति (अर्द्धचक्री), देवों द्वारा पूजित तथा प्रतापी शासक होकर सांसारिक भोगों में लीन हुआ। विजयार्द्ध के उत्तर में ही रथनूपुर देश में चक्रवाक नाम की सेव्य एक अत्यन्त रमणीक पुरी थी। उस नगरी का राजा ज्वलनजटी था। वह पुण्योदय के फलस्वरूप बड़ा ही तेजस्वी और अनेक विद्याओं का ज्ञाता था।

उसी पर्वत के द्यु तिलक नाम के एक अत्यन्त मनोहर नगर मे विद्याधरों का स्वामी था। उसकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। उन दोनों के संयोग से वायुवेगा नाम की अत्यन्त रूपवती एक पुत्री उत्पन्न हुई। अवस्था प्राप्त होने पर वायुवेगा का विवाह ज्वलनजटी के साथ सम्पन्न हुआ। दोनोंके संयोग से सूर्य के समान तेजस्वी अर्ककीर्ति नाम का पुत्र और अत्यन्त शुभ परिणामोंवाली स्वयंप्रभा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। एक दिन की घटना है कि विद्याधरों के स्वामी ज्वलनजटी को अपनी कन्या को यौवन-सम्पन्ना तथा धार्मिक प्रवृत्तिवाली देख कर उसके पूर्वभव सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने की अभिलाषा हुई। उसने सम्भिन्नश्रोतृ नामक एक निमित्तज्ञानी को बुला कर पूछा—कृपा कर यह तो बताइये कि हमारी विदुषी पुत्री को कौन-सा पुण्यवान पति प्राप्त होगा? राजा का प्रश्न सुन निमित्तज्ञानी ने कहा—महाराज, आपकी पुत्री बड़ी भाग्यशालिनी है। यह चक्री नारायण (त्रिपृष्ट) की पटरानी होगी। वह चक्री नारायण आपको विजयार्द्ध के दोनों

ओर का राज्य दिलवाने में समर्थ होगा। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। विजयार्द्ध का राज्य प्राप्त हो जाने पर आप विद्याधरों के स्वामी होंगे। निमित्तज्ञानी के कर्णप्रिय वचनों पर विश्वास कर राजा ने अपने मन्त्री इन्द्र को बुला कर उसे पत्र लिखने का आदेश दिया। पत्र लिख कर मंत्री ने स्वयं पोदनपुर के लिए प्रस्थान किया। वह मंत्री (दूत) आकाश मार्ग से होकर शीघ्र ही पुष्पक-रम्यक वन में जा पहुंचा।

इस ओर की घटना इस प्रकार है कि त्रिपृष्ट ने भी किसी निमित्तज्ञानी के द्वारा सारी घटनायें जान ली थी। दूत के आगमन की बात भी उसे ज्ञात थी। वह बड़े हर्ष के साथ दूत की अगवानी करने के लिये गया। मंत्री (दूत) को उसी समय राजा प्रजापति के सामने लाया गया। दूत ने मस्तक झुका कर पोदनपुरेश्वर के समक्ष पत्र रख दिया और अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। पत्र के भीतर मुहर (छाप) लगी थी, इसलिए उसे 'मुख्य कार्य-सूचक' पत्र समझा गया। राजा ने तत्काल पत्र पढ़ने की आज्ञा दी। पत्र खोल कर पढ़ा गया। उसमें लिखा था :—

पवित्र बुद्धि, न्यायी, महाचतुर नमि राजा के वंश में उत्पन्न सूर्य के सदृश विद्याधरों का स्वामी ज्वलनजटी का रथनूपुर शहरसे ऋषभदेवसे उत्पन्न बाहुबलि वंशीय पोदनपुर के स्वामी महाराज प्रजापति को स्नेहपूर्वक नमस्कार। कुशल के पश्चात् सविनय निवेदन है कि प्रजानाथ! हमारा आपका सम्बन्ध पूर्व पीढ़ियों से चला आ रहा है—इसे केवल आज का प्रस्तावित वैवाहिक सम्बन्ध ही न समझें। अतएव सम्बन्ध को और प्रगाढ़ करने के लिये प्रतापी त्रिपृष्ट (नारायण) के साथ मेरी पुत्री स्वयंप्रभा लक्ष्मी की भांति प्रेम विस्तारित करे अर्थात् मेरी पुत्री के साथ आप के पुत्र का विवाह हो, तो अत्युत्तम है।

राजा प्रजापति पत्र सुन कर मुग्ध हो गये। उन्हें उक्त भावी सम्बन्ध से बड़ी ही प्रसन्नता हुई। उन्होंने उत्तर में कहा—तुम्हारे राजा की इच्छा मुझे शिरोधार्य है। मन्त्री-दूत योग्य आदर और दानादि पा कर वहां से शीघ्र ही लौटा। वह बड़ी द्रुत गति से रथनूपुर आ

पहुंचा। उसने आते ही राजा ज्वलनजटी को सब संदेश सुनाया। ज्वलनजटीने बड़े उत्साह के साथ अपनी पुत्री का विवाह, वैवाहिक विधि के अनुसार त्रिपृष्ट कुमार के साथ कर दिया। राजकन्या का रूप अवर्णनीय था अर्थात् वह साक्षात् लक्ष्मी ही थी। वस्तुतः पुण्योदय से दुर्लभ वस्तु भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

पुनः विद्याधरपति ने अपने जामातृ को सिंहवाहिनी तथा गरुड़वाहिनी नाम की दो विद्यायें प्रदान कीं। परन्तु इस विवाह की बात जब राजा अश्वग्रीव ने सुनी तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। वह अन्य विद्याधर राजाओं को साथ लेकर युद्ध के लिये रथनूपुर के पर्वत पर जा पहुंचा। इधर त्रिपृष्ट भी अपनी सेना सजा कर कुटुम्बियो के साथ वहां पहुंच चुका था। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। चक्री त्रिपृष्ट ने अपने बाहुबल के प्रताप से अश्वग्रीव पर विजय प्राप्त कर ली। अश्वग्रीव भी कब मानने वाला था? उसने त्रिपृष्ट को मारने के उद्देश्य से मारणास्त्र चक्ररत्नको चलाया, पर वह चक्र त्रिपृष्टके महान पुण्योदय के कारण उन्हे न मार कर उनकी प्रदक्षिणा दे कर उनकी दाहिनी भुजा पर आकर विराजमान हो गया। इसके पश्चात् त्रिपृष्ट ने तीन खण्ड की लक्ष्मी को अपने अधीन करने वाले उस चक्ररत्न को अश्वग्रीव पर चलाया। उस चक्र से अश्वग्रीव की मृत्यु हो गई। वह रौद्र परिणाम तथा आरम्भ परिग्रह के फलस्वरूप नरकायु बांध कर मरा, इसलिये वह दुर्बुद्धि महा पाप के उदय से सातवें नरक में गया, जो समग्र दुःखों की खानि है। वहां सर्वथा दुःख ही दुःख है और वह स्थान घृणित है।

इस युद्ध मे विजय प्राप्त कर लेने के कारण त्रिपृष्ट की सारे संसार में ख्याति फैली। उसने चक्ररत्न से तीन खण्डवर्ती राजाओं को अपने अधीन कर लिया। विद्याधरों के स्वामी मागधादि राजाओं तथा व्यन्तरादि देवों ने भयभीत होकर त्रिपृष्ट को अपनी कन्यायें समर्पित कीं तथा भेंट में बहुमूल्य वस्तुएँ प्रदान कीं। त्रिपृष्ट ने विजयार्द्ध के दोनों ओर के राज्य और उनकी ऋद्धियां रथनूपुर के राजा ज्वलनजटी को सौंप दी और स्वयं बड़ी

विभूति के साथ अपने नगर को प्रस्थान किया। पुण्योदय के प्रताप से चक्रादि सप्त रत्नों से शोभायमान तथा सोलह हजार विद्याओं से नमस्कृत वह प्रथम केशव (नारायण) त्रिपृष्ठ सोलह हजार राजकन्याओं के साथ विभिन्न प्रकार के भोगों का उपभोग करने लगा। किन्तु उसकी भोग-लिप्सा यहां तक बढ़ गई कि उसमें धार्मिक प्रवृत्ति नाममात्र को भी नहीं रह गई। वह धर्म-पूजा-दानादि का नाम भी नहीं लेता था। अतएव उसने आरम्भ, मोह, परिग्रह आदि विषयों में लीन रहने के कारण खोटी लेश्या धारण की और रौद्र-ध्यान से नरकायु का बन्ध किया। अतएव मृत्यु होने पर वह सातवें नरक में गया।

नरक तो घृणित होता ही है। वहां इसका जन्म अधोमुख हुआ और दो घड़ी में ही पूर्ण शरीर धारी हो गया। इसके पश्चात् त्रिपृष्ठ का जीव उस स्थान से नरक की भूमि पर गिरा। भूमि का स्पर्श होते ही उसने चिल्लाना आरम्भ किया। जिस भूमि के स्पर्श से हजार बिच्छुओं के काटने जैसी पीड़ा होती है, ऐसी पृथ्वी के स्पर्श से वह दुःखी हुआ। वह जीव १२० बार ऊपर उछलता, पर पुनः पत्थर और कांटों से भरपूर पृथ्वी पर गिर जाता। तदनन्तर वह दीन जीव अन्य नारकियों की दुर्दशा एवं पीड़ा देख कर तथा भावी महान कष्टों की कल्पना कर ऐसा विचार करने लगा—

"यह भी आश्चर्य की बात है कि ऐसी यह घृणित भूमि कौन-सी है, जिसमें दुःख ही दुःख दृष्टिगोचर हो रहे हैं? ये नारकी कौन हैं, जो कष्ट पहुंचाने में बड़े प्रवीण हैं? मैं कौन हूं, जो यहां अकेला आ गया हूं? वह कौनसा बुरा कर्म है, जिसके कुफल-स्वरूप मुझे यहां तक आना पड़ा?" इस प्रकार विचार करता हुआ त्रिपृष्ठ का नारकी जीव करुण क्रन्दन करने लगा। उसे विभंगा अवधि (खोटी अवधि) उत्पन्न हुई। उसने पश्चात्ताप किया—अहा! मैंने पूर्व जन्म में अनेक जीवों की हत्या की। कठोर तथा खोटे वचनों द्वारा दूसरों का निरादर किया। अपने स्वार्थ के लिये पराया धन तथा पराई स्त्रियों तक का अपहरण किया। इस प्रकार न जाने मैंने कितना धन एकत्रित किया। मैंने इन्द्रिय-तृप्ति के लिये

अखाद्य खाये, असेवनीय पदार्थों का सेवन किया, अपेय पदार्थ का पान किया। वे ही सब कुकर्म आज मुझे नष्ट कर रहे हैं। दुःख है कि मैंने स्वर्ग-मोक्ष प्रदान करने वाले परम धर्म को धारण नहीं किया तथा कल्याण कारक अहिंसादि व्रतों का भी पालन नहीं किया। साथ ही न कोई तप किया, न पात्रदान दिया और न जिनेन्द्र देव की पूजा ही की अर्थात् एक भी शुभ कार्य करने के लिये मैं तत्पर नहीं हुआ। यही कारण है कि पूर्व कृत महान पापों के उदय से आज मेरे समक्ष सारी विपत्तियां आ खड़ी हुई हैं। मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। अब मैं किसकी शरण में जाऊं, जो इस स्थल पर मेरी रक्षा कर सकेगा?

इस प्रकार की चिन्ताओं से युक्त त्रिपृष्ठ का जीव अभी करुण क्रन्दन कर ही रहा था कि उसके सामने पुराने नारकियों का एक बड़ा दल आ पहुँचा। वे अपने मध्य एक नवीन नारकी को देख कर उसे मुद्गर आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से मारने लगे। कोई दुष्ट उसके नेत्र निकालने लगा, कोई अङ्ग फोड़ने लगा, तो कोई आंतें निकालने लगा। इस प्रकार वे निर्दयी उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर तप्त कड़ाही में डालने लगे। गर्म कड़ाही में डाल देने के बाद उसका शरीर जल गया, जिससे उसे बड़ी दाह-पीड़ा उत्पन्न हुई। उस दाह की शान्ति के लिये उसने वैतरणी नदी में डुबकी लगाई। वहां जल के खारेपन और दुर्गन्ध से वह और भी व्याकुल हो उठा। पश्चात् वह विश्राम करने के लिये असि-पत्र वनमें गया, पर वह भी कौन-सा शान्तिमय स्थान था? वहां वृक्षों के तलवार जैसे तीक्ष्ण पत्तों से उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो गया। इस स्थान की भयानक ज्वाला से दुःखी हो वह खण्डित शरीर वाला नारकी शांति प्राप्त करने लिये पहाड़ की गुफाओं में घुसा। वहां भी क्रूर नारकियों ने विक्रिया के जोर से हिंसक जीवों का शरीर धारण कर उसे खाना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार के दुःख-भोग, जो कि कवियों की कल्पना से भी परे हैं तथा उपमा-रहित हैं, उसे भोगने पड़े। यद्यपि उसे ऐसी प्यास लगी थी, जो समुद्र के सम्पूर्ण जल से भी बुझने

वाली नहीं थी, पर उसे एक बूंद भी जल नहीं मिलता था। संसार-भर का अन्न खाकर तृप्त न होने वाली भूख से पीड़ित होने पर भी उसे एक दाना भी खाने को प्राप्त नहीं था। उस स्थान पर इतनी शीत थी कि यदि लाख योजन के प्रमाण का एक गोला वहां डाल दिया जाय तो शीत से उसके सैकड़ों टुकड़े हो जांय। इस प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ वह नारकी उस क्षेत्र में उत्पन्न हुआ जो पांच प्रकार का है। उसे कृष्ण लेश्या परिमाण दुःख देनेवाली तैंतीस सागर की आयु मिली।

इधर त्रिपृष्ठ नारायण के वियोग से दुःखी होकर अत्यन्त पुण्यवान बलभद्र ने समस्त परिग्रहों का त्याग कर दिया तथा सांसारिक सुखों से विरक्त होकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। वे मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के मुख की पवित्र जिनवाणी का अध्ययन करने लगे। उनकी धर्म-निष्ठा बड़ी प्रबल हुई। उन्होंने अनेक भव्य पुरुषों को जिनेन्द्र भगवान का धार्मिक सन्देश सुनाया और मोक्ष-सुख प्रदान करनेवाला उपदेश दिया। वे मुनि-संघ के साथ वनों, पर्वतों और सुरम्य देशों में विहार करने लगे।

चतुर्थ प्रकरण

ऐहिक और अनन्त सुख, करते सदा प्रदान ;
करें सिद्ध शुभ कामना, वीरनाथ भगवान ।

जो ऐहिक और पारलौकिक सुख प्रदान करने वाले हैं, जिनके पाद-पद्मों की सेवा इन्द्रादि देवगण किया करते हैं, उन जिनेन्द्र भगवान की भक्ति-भाव से मैं वन्दना करता हूं।

पश्चात् त्रिपृष्ट का जीव नरक की यातनायें भोग कर पुनः इसी भारत में पशु योनि में उत्पन्न हुआ। गंगा तट पर एक विकट वन था। वन के चारों ओर वन-सिंह गिरि की विशाल पर्वतमालायें थीं। वह नारकी जीव इसी गिरि पर सिंह के रूप में उत्पन्न हुआ। यहां इसकी आयु एक सागर पर्यन्त हुई और पशु-प्रवृत्ति के कारण हिंसा आदि कार्यों में रत हुआ, पर काल-लब्धि प्राप्त होने पर उस हिंसक जीव सिंह का शरीर-पात हो गया। उसने

पुनः पशु योनि धारण की। इसबार भी सिंधुकूट के पूव हिमगिरि पर्वत पर वह सिंह रूप में उत्पन्न हुआ तथा पूर्व संस्कार के कारण वह बड़ा ही क्रूर स्वभाव का हुआ। उसके नख ओर दांत बड़े ही तीक्ष्ण थे।

एक दिन की घटना है—वह सिंह वन से एक मृग को मार कर लिये आ रहा था। वह बार-बार मृग के मांस को नोचता था और उसे भक्षण करता जाता था। उसी समय ज्येष्ठ ओर अमिततेज नामक दो चारणमुनि आकाश-मार्ग से कहीं जा रहे थे। उन्होंने उस क्रूर-स्वभावी को देखा। उन्हें तीर्थंकर भगवान के पूर्व वचनों का स्मरण हो आया। वे दोनों महामुनि पृथ्वी पर उतरे और एक सुरम्य शिला पर आकर बैठ गये।

उस समय उन मुनिराजों की शोभा देखते ही बनती था। सिंह भी थोड़ी दूर पर खड़ा था। कुछ समय बाद अमिततेज नाम के मुनिराज ने खड़े होकर कहा—अरे मृगराज! तू मेरे वचनों को ध्यान देकर श्रवण कर। जिस समय तू त्रिपृष्ट नरेश के रूप में था, उसी समय समस्त राजा तेरे आश्रय में थे। तू ने राज्य-लाभ की आकांक्षा से हिंसादि कार्यों को किया था और धर्म-दान आदि कार्यों की उपेक्षा की थी। केवल यही नहीं, तूने श्रेष्ठ-मार्ग को दोष लगा कर मिथ्या-मार्ग को बढ़ाने में सहायता पहुंचाई थी, ऋषभदेवके वचनों का भरपूर अनादर किया था। उसी मिथ्यात्व से उत्पन्न पापोदय से पीड़ित होकर तुझे अनेक दुःख भोगने पड़े। इष्ट-वियोग तथा अरिष्ट संयोग से अनेक वेदनायें सहन करनी पड़ी हैं। पुनः उसी मिथ्या रूपी महान पाप से तू विभिन्न स्थावर और त्रस योनियों में भटकता रहा है।

किसी कारणवश तू पुनः किसी राजा के यहां उत्पन हुआ। वहां तेरा नाम विश्वनन्दी पड़ा। तूने पुनः संयम धारण किया और त्रिपृष्ट नाम का नारायण हुआ। आगे तू इसी भरत क्षेत्र में जन्म धारण कर संसार का हित करनेवाला चौबीसवां तीर्थंकर होगा, यह सर्वथा सत्य है। कारण जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में एक बार किसी ने श्रीधर नामक तीर्थंकर से

पूछा था कि हे भगवान! जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो चौबीसवां तीर्थंकर होगा, उसका जीव आजकल किस स्थान पर है? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान ने जो कुछ कहा था, उसे मैंने तुम्हें सुना दिया। अतएव, अब तुम संसार-बन्ध के कारण ऐसे मिथ्यात्व को हलाहल समझ कर त्याग दो और सम्यक्त्व को ग्रहण करो। सम्यक्त्व धर्मरूपी कल्पवृक्ष का बीज है वह मोक्ष-मार्ग का प्रथम सोपान है। ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करने से तुम्हें तीनों संसार की विभूति, तीनों जगत में होनेवाले चक्रवर्ती आदि के सुख तथा अर्हंत पद जैसे पद उपलब्ध होकर अनन्त सुख की प्राप्ति होगी।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन के समान न तो कोई धर्म है, न होगा। यह सम्यक्त्व ही कल्याण-साधक है। परन्तु मिथ्यात्वके समान तीनों लोकों में दूसरा पाप नहीं है। अतएव यह मिथ्यात्व ही सारे अनर्थों की जड़ है। उस सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवादि सप्त तत्वों के श्रद्धान से तथा सर्वज्ञ देव, सद्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थ गुरुओं के श्रद्धान से होती है, जिसकी प्राप्तिसे ही ज्ञान-चरित्र को सत्य कहा जा सकता है। यह कथन भगवान जिनेन्द्र देव का है। अतएव तुम्हें चाहिए कि सम्यक्त्वके साथ ही उत्कृष्ट श्रावक के बारह व्रतों को धारण करो और अन्तिम काल में संन्यास व्रत ग्रहण कर प्राण त्याग करो। तुम अन्य सब प्रकार के हिंसादि पापों का परित्याग कर दो। अब तुम्हें संसार में भटकते रहने का बिलकुल डर नहीं रहा, अतः बुरे मार्ग का सर्वथा परित्याग कर शुभ मार्ग ग्रहण करो।

सिद्ध योगीके मुख-कमल से प्रकट हुए धर्मरूपी अमृत का पान कर सिंह (त्रिपृष्टके जीव) ने मिथ्यात्व-रूपी विष को उगल दिया। इस कारण वह अब शुद्धचित्त हो गया। पश्चात् उसने दोनों मुनियों की परिक्रमा की तथा उनके चरणों में मस्तक झुका कर देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान-रूपी सम्यक्त्व ग्रहण किया तथा समय पाकर उसने संन्यास व्रत के साथ-साथ समस्त व्रतों को ग्रहण किया। पूर्व में इस सिंह का भोजन मांस के अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं थी, इसलिये उसे व्रत धारण करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

फिर भी उसने बड़े धैर्य के साथ व्रतों का पालन किया। आचार्य का कथन है कि वह कौन-सा कार्य है, जो होनहार होने पर नहीं होता? अर्थात् सब ही कार्य अपने-आप हो जाता है।

दोनों मुनियों के उपदेशसे प्रभावित हो उस सिंहका चित्त शान्त हो गया और वह अत्यन्त संयमी हो गया। उसे देख कर ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह वास्तविक सिंह नहीं, बल्कि चित्रित सिंह है। वह भूख, प्यास आदि सारी वेदनाओं को सहन करते हुए संसार की दुःखमयी स्थिति पर सर्वदा विचार किया करता था। धैर्यपूर्वक समस्त जीवों पर दया भाव दिखलाता हुआ वह आर्त-रौद्र ध्यानों को छोड़ने लगा। पुनः पापों को नष्ट करने वाला धर्म-ध्यान और सम्यक्त्व आदि का चिन्तवन करने लगा।

इस प्रकार उस सिंहने जीवन-पर्यन्त व्रतोंका पूर्ण रूप से पालन किया। अन्तमें समाधि मरण द्वारा उसकी मृत्यु हुई। वह व्रतादिकों के फलस्वरूप सौधर्म नामके प्रथम स्वर्गमे महान ऋद्धिधारी सिंहकेतु नामका देव हुआ। उसे दो घड़ी के अन्दर ही यौवनावस्था प्राप्त हो गई। वहां पर उसे अवधिज्ञान के द्वारा व्रतोंके शुभ फल ज्ञात हो गये। अतः धर्म के माहात्म्य की प्रशंसा कर वह धर्म-धारण करने में संलग्न हो गया।

पश्चात् वह देव अकृत्रिम चैत्यालयमे जाकर अष्ट द्रव्यों सहित अर्हंत देवकी पूजा करने लगा। मनुष्यलोक में अपने मनोरथों की सिद्धि के लिये नन्दीश्वरादि द्वीपों में उसने जिन प्रतिमाओं की पूजा की तथा गणधरादि मुनींद्रों को हर्ष सहित प्रणाम कर उनसे तत्वों का स्वरूप सुना एवं धर्म का उपार्जन कर अपने स्थान को लौट आया। उसने अपने पूर्व कृत पुण्योदय से देवियों की प्राप्ति की तथा विमानादि सम्पदाओं को प्राप्त किया।

इस तरह वह देव विभिन्न रूप से पुण्यका उपार्जन करता हुआ सात हस्त प्रमाण दिव्य शरीरका धारक हुआ। उसकी आंखों के पलक सदा खुले रहते थे। उसे पूर्व में नारकी भूमि तक का अवधिज्ञान था और विक्रिया ऋद्धिका बल था। दो हजार वर्ष व्यतीत होने के उपरान्त हृदय से झरनेवाले अमृत का पान करता था तथा तीस दिन के पश्चात् थोड़ी

श्वास लेता था, देवांगनाओं का नृत्य देखा करता था तथा वनों-पर्वतों पर अपनी देवियों के साथ क्रीड़ा-रत रहता था और अपनी इच्छा के अनुसार असंख्यात द्वीप-समुद्रों में विहार करता रहता था। इन्द्रिय-सुखरूपी समुद्रमें मग्न उस देवने दो सागर की आयु प्राप्त की। उसका शरीर धातु, मल और पसीना से सर्वथा रहित था। इस प्रकार श्रेष्ठ चारित्र पालन द्वारा उपार्जन किये हुए पुण्य के प्रबल प्रताप से उसे भोगोपभोग की सारी सामग्रियां प्राप्त हुईं। इस प्रकार भोगोपभोग में उसने कितना समय बिताया, यह उसे ज्ञात न हो सका।

धातकीखण्ड के पूर्व विदेहमें मंगलावती नाम का एक देश है। उसके मध्य भाग में विजयार्द्ध पर्वत है। यह पर्वत दो सौ कोस ऊँचा है। उसकी उत्तर श्रेणी में कनकप्रभ नामका एक बड़ा ही रमणीक नगर है। वहां विद्याधरों का राजा कनकपुंग राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कनकमाला था। सिंहकेतु नाम का देव स्वर्गसे चय कर कनकमाला रानी के गर्भ से सुवर्ण की कान्तिके समान कनकोज्वल नाम का पुत्र हुआ। राजा कनक-पुंगने पुत्र उत्पन्न होनेके आनन्द में जैन-मन्दिरमें जा कर पंचकल्याणक की पूजा बड़ी भक्ति के साथ की। इसके पश्चात् दानादि से बन्धु, सज्जनों तथा दीन-दुःखियों आदि को सन्तुष्ट कर के नृत्य, गीतसे जन्मोत्सव मनाया। वह रूपवान बालक द्वितीया के चन्द्रमा की भांति क्रम-क्रम से बढ़ने लगा। वह बालक दुग्धपान, वस्त्र अलंकारादि परिधान आदि बाल-सुलभ कार्यों से सबको प्रसन्न किया करता था। वह थोड़े ही समय में अनेक शास्त्रों का पारंगत हो गया और सर्व गुणों से सम्पन्न हुआ।

पश्चात् जब वह युवावस्था को प्राप्त हुआ तो उसका विवाह उसके मामा की पुत्री कनकवती के साथ सम्पन्न हुआ। एक दिन वह कुमार अपनी पत्नीके साथ महामेरु पर्वत पर आत्म-कल्याण के लिये चैत्यालयों की पूजा तथा क्रीड़ा करने गया था। उस स्थान पर आकाशगामिनी आदि ऋद्धियों वाले अवधिज्ञानी मुनीश्वर को देख भक्तिपूर्वक उनकी तीन प्रदक्षिणा दे उन्हें नमस्कार किया, पश्चात् धर्ममें अभिरुचि रखने वाला वह कुमार

धर्म के सम्बन्ध में मुनिराज से प्रश्न करने लगा।

उसने पूछा—भगवान, मुझे निर्दोष धर्मका स्वरूप बतायें, जिससे मोक्ष-मार्ग में सहायता मिल सके। कुमार के वचनों को श्रवण कर मुनि ने कहा—बुद्धिमान! तू एकाग्र मन से सुन, मैं तुझे धर्म का स्वरूप बतलाता हूं। जो संसार-समुद्रमें डूबते हुए जीवों का उद्धार कर मोक्ष-स्थान पर ले जाये अथवा उसे तीनों जगत का स्वामी बनावे, उसे धर्म कहते हैं। वस्तुतः धर्म वह है, जिससे इस भवमें सम्पदाओं की प्राप्ति और मनोकामनाओं की पूर्ति होती है तथा दुःख आदि भयानक आपत्तियों का सर्वथा नाश होता है। केवल यही नहीं, धर्मसे तीनों लोकोंमें प्रशंसा होती है और परभव में राज्य आदिकी विभूति, सर्वार्थसिद्धि पद, तीर्थंकर पद, बलभद्र, चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति सुलभ होती है। जिसका उपदेश केवली ने दिया है, जो अहिंसा-स्वरूप और निष्पाप है, वही धर्म है—दूसरा कोई भी धर्म नहीं है।

वह धर्म अहिंसा, सत्य, अचौर्य, परिग्रह-त्याग, ईर्या भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, उत्सर्ग, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्तिं, काय-गुप्ति—इस भेद से तेरह प्रकार का है। इसे वीतरागी मुनि धारण करते हैं अथवा उत्तम क्षमादि स्वरूप दश परम धर्म को मोहेन्द्रिय-रूपी चोरोंको परास्त करने के लिये योग धारण करते हैं। अतएव हे बुद्धिमान! तू मुनि-धर्मको धारण कर और कुमार अवस्थामें ही शीघ्र कामादि शत्रुओंको तप-रूपी खडगसे मार, सदा चित्तमें धर्मका ध्यान कर, धर्मसे अपनेको शोभायमान कर, तू धर्म के लिये गृह का त्याग कर, धर्म के अतिरिक्त और दूसरा आचरण न कर, सदा धर्म की शरण ग्रहण कर और धर्म में ही स्थिर रह। धर्म सदा तेरी रक्षा करेगा।

विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। अब तू शीघ्र से शीघ्र मोहरूपी महान शत्रुको परास्त कर मुक्तिके लिये धर्म अंगीकार कर। इस प्रकार धर्मापदेश करनेवाले उन मुनि के वचनों को सुन कर उसे संसार, शरीर, स्त्री आदि भोगों से विरक्ति उत्पन्न हो गई। उसने

मन में विचार किया कि परोपकारी मुनि महाराज ने मेरे हित के लिए ही धर्मोपदेश किया है, अतः मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिये शीघ्र ही श्रेष्ठ तप को ग्रहण करना चाहिए। कारण, न जाने किस समय मेरी मृत्यु हो जाय। जो 'काल' गर्भ के बालक को मार डालता है, उसका क्या ठिकाना? जब यमराज, अहमिन्द्र, देवेन्द्र आदि महान पुण्यवानों तकको नहीं छोड़ता तब हम जैसे पुण्यहीन व्यक्तियोंके जीवित रहने की क्या आशा? वृद्ध होने पर भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। जो धर्म-धारण नहीं करते, वे पाप का बोझ लेकर यमराज का ग्रास हो नरकादि योनियों में परिभ्रमण किया करते हैं। अतएव भव्य जीवों को सर्वदा धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। जब कभी भी अपनी मृत्यु हो सकती है, ऐसी आशंका कर समय को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए।

ऐसा विचार कर उस बुद्धिमान ने वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर दिया एवं अपनी पत्नी को मायाविनी समझ त्याग कर मन-वचन-कर्म तीनों के द्वारा नमस्कृत जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली, जिससे स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग सरल हो जाते हैं। कनकोज्वल कुमार ने आर्त-रौद्ररूप खोटे ध्यान तथा कृष्णादि खोटी लेश्याओं को छोड़ कर धर्म-ध्यान में लीन हो शुद्ध लेश्या धारण की। वह चारों विकथा-रूप वचनों को त्याग कर धर्म-कथा में लीन हुआ। ध्यान की सिद्धि के लिए उसने वैराग्य उत्पन्न करने वाले स्थान जैसे गुफा, वन, पर्वत, श्मशान और निर्जन स्थान आदि की शरण ली। धर्मोपदेश और शास्त्रों का वह बहुत बड़ा ज्ञाता हुआ।

मुनि-कुमार ने वन, ग्राम, देश आदि स्थानों में विहार कर कर्मों को विनष्ट करने वाला बारह प्रकार के तपों का आचरण किया। इस प्रकार उन मुनि ने मूल-गुणों का तथा शास्त्र में वर्णित संयम का पालन मृत्यु पर्यन्त कर अन्त समय चारों प्रकार के आहारों का त्याग तथा शरीर का ममत्व छोड़ कर संन्यास धारण कर लिया। अन्त में उन्होंने धैर्यपूर्वक भूख-प्यास आदि परीषहों को जीत कर समाधि के समय धर्म-ध्यान से प्राण का परित्याग किया।

उक्त तप के प्रभाव से इन्हे लांतव नाम के सातवे स्वर्ग में महान ऋद्धिधारी देव-पद प्राप्त हुआ और सुख प्रदान करने वाली सारी सम्पदाये उपलब्ध हुईं।

इन्होंने स्वर्ग में भी पूर्वकृत तपों के प्रभाव और उनके फलों को अवधिज्ञान द्वारा जान कर दृढ़चित्त हो धर्म की सिद्धि के लिये त्रैलोक्य स्थित जिनालयों की वन्दना एवं मुनिगण आदि की पूजा करते हुए महान पुण्य का उपार्जन किया। इस पुण्य फल से उन्हें तेरह सागर की आयु तथा पाँच हाथ ऊँचा शरीर प्राप्त हुआ। वे तेरह हजार वर्ष बाद हृदयमें झरते हुए अमृत का सेवन करते थे और छः मास के पश्चात् सुगन्धित श्वास लेते थे। उनका अवधिज्ञान तथा विक्रिया ऋद्धि नरक की तीसरी भूमि तक थी। वह देव सप्त धातु, मल-पसीना रहित दिव्य शरीर वाला हुआ। वह सम्यग्दृष्टि सदा शुभ-ध्यान में तथा जिन पूजा में लीन रहता था। उसे देवियों के नृत्य, गीत आदि सुख-सामग्रियां उपलब्ध थीं। वह शुभ भावनाओं का चिन्तवन करने वाला देवों द्वारा पूज्य हुआ।

अथानन्तर जम्बू द्वीप के कौशल नामक देशमें अयोध्या नाम की एक नगरी है। वह नगरी अत्यन्त रमणीक तथा भव्य जनों से भरी हुई है। वहां के राजा का नाम वज्रसेन था और उसकी रानी का नाम शीलवती था। वह देव स्वर्ग से चय कर इन दोनों के यहां हरिषेण नामक उसका पुत्र हुआ। राजा ने बड़े आनंद के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। हरिषेण कुमारावस्था में ही राजनीति के साथ-साथ जैन सिद्धान्तोंका भी बड़ा जानकर हुआ। वह रूप, गुण, कान्ति आदि सभी गुणों से विभूषित था। उत्तम वस्त्राभूषणों से सुशोभित हरिषेण कुमार देव के समान सुन्दर प्रतीत होता था।

पश्चात् यौवनावस्था में कुमार का विवाह अनेक सुन्दरी कन्याओं के साथ हुआ। राजा ने पुत्र को योग्य समझ कर उसे राज्य-पद समर्पित कर दिया। वह बड़े आनंदके साथ राज्य लक्ष्मीका उपभोग करने लगा। वह गृहस्थ-धर्म की सिद्धि के उद्देश्य से बड़ी शुद्धतापूर्वक सम्यक्त्व का पालन करने लगा। अष्टमी और चौदश के दिन वह पाप कर्मों को त्याग कर

प्रोषध व्रत का आचरण करता था। सवेरे शय्या त्याग करने के साथ ही उसका सामायिक तथा स्तवन-पाठ आरंभ हो जाता था। इसके बाद वह स्वच्छ वस्त्र से युक्त होकर अर्थ-धर्म-काम आदि की सिद्धि के लिये जिनालय में जाकर देव-पूजा करता था। मान-कषाय आदि दुर्गुणों से मुक्त होकर सुपात्रों को विधिवत दान दिया करता था। उसका आहार दान स्वादिष्ट और प्रासुक हुआ करता था।

वह जितेन्द्रिय सन्ध्याके समय कल्याणकारक सामायिक आदि उत्तम कार्य सम्पन्न किया करता था। केवल यही नहीं, बल्कि धर्म-तीर्थकी प्रवृत्तिके लिए वह अर्हंत, केवली, योगीन्द्र और मुनीश्वरोंकी संघ-यात्रामें सम्मिलित हुआ करता था। वह राजा सुख-समुद्र-रूप तत्व-चर्चा तथा श्रेष्ठ धर्मों को श्रवण किया करता था। उसे साधर्मी भाइयों से बड़ी प्रीति थी। उनके गुणों से मुग्ध होकर वह उनका बड़ा सम्मान करता था। अनेक प्रकार के आचरणों का पालन करता हुआ वह राजा धर्म के पालन के फल से प्राप्त भोग्य सामग्रियों का उपभोग करने लगा। अतएव हे भव्य पुरुषों! यदि तुम श्रेष्ठ सुख की उपलब्धि चाहते हो तो कठोर प्रयत्न करके भी धर्म को धारण करो।

पंचम प्रकरण

सहन किये उपसर्ग बहु; करि विनष्ट निज कर्म;
वन्दो जिनवर को सदा; जो है साधन धर्म।

कर्मों को परास्त करने वाले तथा रुद्र द्वारा किये गये उपसर्गों को सहन करने वाले, वीरों में अग्रगण्य जिनेन्द्र भगवान को मैं नमस्कार करता हूं।

एक दिन की बात है—हरिषेण महाराज विवेक पूर्वक निर्मल चित्त से इस प्रकार विचार करने लगे कि मैं कौन हूं, मेरा शरीर क्या है और सम्बन्धके अनुसार इस कुटुम्ब की स्थिति क्या है? मुझे अविनश्वर सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है, मेरी तृष्णा किस प्रकारसे शान्त होगी और संसारमें हित-अहित वस्तुएँ क्या हैं? इन विषयों पर पूर्ण विचार करने

के बाद हरिषेण महाराज को ज्ञान हुआ कि यह आत्मा सम्यग्दर्शन और ज्ञान-चारित्र-स्वरूप है और ये शरीरादि अवयव दुर्गन्धयुक्त अचेतन पुद्गल मात्र है। जिस प्रकार इस लोक में पक्षियों का समूह रात्रि के समय तो एक साथ निवास करता है और प्रातः होते ही सब अलग-अलग उड़ जाते हैं, उसी प्रकार ये स्त्री, कुटुम्ब आदि परिवारवर्ग भी अलग-अलग हैं।

वस्तुतः मोक्षके अतिरिक्त अन्य कोई भी दूसरा अविनश्वर सुख-स्थान नहीं दिखलाई देता, परंतु उस सुख की प्राप्ति इस क्षणभंगुर शरीर का ममत्व त्यागने से ही हो सकती है। तप की प्राप्ति भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से ही हो सकेगी। ये मोह और इन्द्रिय-विजय तो अत्यन्त अहित करनेवाले हैं। अतएव, आत्म-हित चाहनेवाले को बिना किसी प्रकार का विचार किये ही विषय-सुख को तिलांजलि दे देना चाहिए और रत्नत्रय तप को ग्रहण कर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर लेना चाहिए।

बुद्धिमान लोग उसी कार्य पर दृढ़ रहते हैं, जिससे लौकिक और पारलौकिक दोनों ही सुखों की प्राप्ति होती हो। मनुष्य को वे कार्य कदापि न करने चाहिये, जिनसे दूसरों को कष्ट पहुंचे, उनकी बुराई हो। इस प्रकार मनमें विचार करते हुए हरिषेण महाराज को विनाशकी हुताग्नि की ओर प्रेरित करनेवाले भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न हो गई; वह धर्म-बुद्धि होकर अपने हित-साधन मे संलग्न हुआ। एक दिन उसने अपने समस्त साम्राज्य को मृत्तिकावत नगण्य समझ कर उसे परित्याग कर दिया और तप ग्रहण करने के उद्देश्य से घर से निकल पड़ा। वह सर्वप्रथम उस वन में पहुंचा, जहां अंगपूर्व श्रुत के जानकार श्रुतसागर नामक मुनि विराजमान थे। उसने वहां पहुंच कर उन्हें नमस्कार किया।

मोक्ष के इच्छुक उस राजा ने मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक वाह्य और अन्तरंग परिग्रहों का परित्याग कर बड़ी प्रसन्नता से जिन-दीक्षा धारण कर ली। उसने पुनः कर्म-रूपी पर्वतों को ध्वस्त करने के उद्देश्य से तपरूपी वज्र का आश्रय ग्रहण किया और इन्द्रिय-

मनरूपी बैरियों को परास्त करने के लिये प्रशंसनीय शुभ-धर्म को धारण किया। वे सिंह के समान मुनि-रूप में धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की सिद्धि प्राप्त करने की आकांक्षा से पर्वतों, वनों और श्मशान आदि स्थानों में निवास करने लगे। दिन के समय तो वनादि स्थानों में विहार करना और सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि को ध्यानादि धारण करना ही उनकी दिनचर्या हो गई थी। वे योगीराज सर्प आदि हिंसक जन्तुओं से भरे हुए स्थानों में तूफान और अति भयंकर वर्षा में भी वृक्ष के तले ध्यान लगा कर बैठते थे।

शीत काल में चौराहे पर तथा नदी के किनारे उनकी ध्यान-समाधि लगती थी। वे शीत-ग्रीष्म की बाधा को रोकने में सर्वथा समर्थ हुए। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों से तप्त पर्वत की शिला पर अपने ज्ञानरूपी शीतल जल से भीषण आताप को शांत कर वे आसन लगाते थे। केवल इतना ही नहीं, वे ध्यान की सिद्धि के लिए कठिन काय कृश वाह्य तप का पालन करने लगे। उन्होंने अंतरंग तपरूप उत्तर मूल गुणों का पालन करते हुए मृत्यु के समय आहार और शरीर की ममता परित्याग कर अनशन तप ग्रहण कर लिया था। बाद में वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप-रूप चारों आराधनाओं का सेवन कर समाधि मरण से प्राणों का परित्याग कर, उसके फल-स्वरूप महाशुक्र नामक दशवें स्वर्ग में महान ऋद्धिधारी देव हुए। वहां अन्तर्मुहूर्त में ही उन्हें यौवनावस्था की प्राप्ति हो गई। वे धातु-मल रहित दिव्य शरीरधारी हुए।

देव रूप में उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने पूर्वकृत धर्म के फल से प्राप्त विभूतियों का ज्ञान अपने अवधिज्ञान से प्राप्त कर लिया। धर्म की सिद्धि के लिये वे जिन-मन्दिरों में जा कर सर्व जगत का कल्याण करनेवाले जिन भगवान की अष्ट द्रव्यों से पूजा किया करते थे। पुनः मध्यलोक के जिन चैत्यालयों की पूजा कर और जिनवाणी का श्रवण कर उन्होंने श्रेष्ठ पुण्य का उपार्जन किया। धर्मप्रेमी उस देव को सोलह सागर की आयु प्राप्त हुई और उनका शरीर चार हाथ ऊँचा हुआ। उनके शुभ परिणाम से उन्हें चौथी नरक की भूमि तक

का अवधिज्ञान था और वहीं तक उन्हें विक्रिया शक्ति प्राप्त थी। सोलह हजार वर्ष व्यतीत होने पर वे अमृत का पानाहार करते तथा सोलह पक्ष व्यतीत होने पर सुगन्धमयी श्वास लेते थे। इस प्रकार पूर्व के तपश्चरण के प्रभाव से उन्हें दिव्य भोगों की उपलब्धि हुई। देवियों के साथ विभिन्न भोगों का उपभोग करते हुए वे सुखसमुद्र में निमग्न रहने लगे।

पूर्व विदेह में पुष्कलावती नामका एक देश है। वहां पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है। वहां सदा ही चक्रवर्तियोंका निवास रहा है। वहां के राजाका नाम सुमित्र था और उसकी शीलव्रत धारिणी रानी का नाम सुव्रता था। महाशुक्र स्वर्गका उक्त देव स्वर्गसे चय कर कर उन दोनोंके यहां 'प्रिय' नामका पुत्र हुआ। वह सबका प्रिय था। पिताने पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में अर्हन्त भगवान की कल्याणकारिणी महान पूजा का आयोजन किया। उसने चारों प्रकार के दान दिये और बाजे बजवाये। प्रियमित्र कुमार क्रम-क्रम से बढ़ने लगा। वह शोभा और भूषणों से सुशोभित देवों जैसा शोभायमान हुआ।

पश्चात् उस कुमार ने धर्म और पुरुषार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से जैन गुरु के पास जा कर विद्यारम्भ किया। शास्त्र अध्ययन के साथ उसने राज्य-विद्या का भी अध्ययन किया। अवस्था प्राप्त होने पर उसने लक्ष्मी के साथ पिता के पद को प्राप्त किया। उसका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा। उस समय कुमार के पुण्योदय से उसे अपूर्व निधियां प्राप्त हुई। उसने उत्कृष्ट सम्पदा और छः अंगोंवाली सेनाओं को प्राप्त किया। थोड़े ही समय में कुमार ने चक्र द्वारा विद्याधरों और मागधादि व्यन्तर देवों के स्वामियों को अपने वश में कर लिया एवं भेंटस्वरूप उनकी कन्यायें आदि ले कर इन्द्र के समान शोभायमान हुआ।

युद्ध-यात्रा समाप्त कर चक्रवर्ती होकर वह राजकुमार अपनी पुरीमें लौटा। मनुष्य, विद्याधर तथा व्यन्तर देवों के स्वामियों के साथ उसने इन्द्रपुरी जैसी नगरी में बड़े उत्साह पूर्वक प्रवेश किया। पुण्य के फलस्वरूप भूमि-गोचरी और विद्याधरों की छयानवे हजार कन्याओं के साथ इस चक्रवर्ती ने विवाह किया। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजे इस चक्री के

आदेश का पालन करते थे।

इस चक्रवर्ती के यहां चौरासी हजार पैदल सैन्य थे और हजार गणवाले देव थे। अठारह हजार म्लेच्छ राजाओं का समूह इसके चरण-कमलों की पूजा में सदा लीन रहता था। सेनापति, रथपति, स्त्री, हर्म्यपति, पुरोहित, हाथी, घोड़ा, दण्ड, चक्र, चर्म, काकिणी, मणि, छत्र, अरि—ये चौदह रत्न उसे प्राप्त थे, जिनकी रक्षा देव लोग करते थे। पद्म, काल, महाकाल, सर्वरत्न, पाण्डुक, नैसर्प, माणव, शंख, पिंगल—ये नौ निधियां भी उसे प्राप्त थीं, जो चक्रवर्तीके घरमें भोगोपभोग की सामग्रियां प्रस्तुत करती थीं।

चक्रवर्ती का पुण्य इतना प्रबल हुआ कि छ्यानवे करोड़ ग्राम तथा योग्य सम्पदायें इसे प्राप्त हुईं। मनुष्य तथा देवों द्वारा उसकी पूजा होने लगी और दशांग भोग की सामग्रियों का बड़े आनन्दपूर्वक उपभोग करने लगा। आचार्य का कथन है कि इस जीव के समस्त मनो-रथों की सिद्धि धर्म-साधन से ही हुआ करती है। अर्थ-धर्म-काम की सम्पदायें और मोक्ष की प्राप्ति इसीसे होती है। यह समझ कर उस बुद्धिमान ने मन-वचन-काय से धर्म की शरण ली। शंका आदि दोषों से सर्वथा दूर रह कर सम्यग्दृष्टि राजा ने श्रावकों के १२ व्रत धारण किये। चारों पर्व-दिनों में आरम्भ-रहित पापनाशक प्रोषधोपवासों का वह पालन किया करता था।

ऊँचे और भव्य जैन-मन्दिरों का निर्माण कर उस में कितनी ही स्वर्ण की और रत्न-मयी जिनेन्द्र-मूर्तियों की स्थापना उसने की। अपने घर के चैत्यालयों में तथा बाहर के अन्य जिन-मन्दिरों में भी पूजा करने के उद्देश्य से भक्ति भाव से वह आया करता था। साथ ही वह राज्य-हित के लिये मुनियों को प्रासुक आहार-दान भी दिया करता था। कभी-कभी तीर्थंकर, गणधर और योगियों की वन्दना-पूजा के लिये यात्रा भी किया करता था। वह चक्रवर्ती सर्वदा अंगपूर्व के ग्रन्थों का श्रवण करता तथा दोनों प्रकार से धर्म के स्वरूप का विचार किया करता था।

रात-दिन किये अशुभ कर्मों को वह सामायिक आदि शुभ कार्यों द्वारा नष्ट करता और साथ ही अपने किये हुए पापों की निन्दा किया करता था। इस प्रकार शुभ क्रियाओं के द्वारा वह धर्म का पालन करता था और दूसरों को उपदेश देता था।

एक दिन की घटना है—उस दिन वह चक्रवर्ती राजा अपने परिवारवर्ग के साथ क्षेमंकर जिनेश्वर की वन्दना करने के लिये गया था। वहां पहुंच कर उसने केवली भगवान की तीन प्रदक्षिणा दी एवं मस्तक झुका कर जलादि अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा की और मनुष्यों के कोठे में जा कर बैठ गया। चक्रवर्ती के हित के लिये भगवान अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा बड़ी प्रीति के साथ धर्मोपदेश करने लगे। उन्होंने कहना आरम्भ किया—आयु, लक्ष्मी-भोग आदि इन्द्रियजन्य संसार के सुख विद्युत के समान क्षणभंगुर और विनश्वर हैं, अतएव भव्य जनों को सदा अविनाशी मोक्ष का ही साधन करना चाहिये। संसार में जीव की मृत्यु, रोग, क्लेश आदि दुखों से रक्षा करनेवाला और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। धर्म ही एक शरण है। दुःखादिकों के निवारण के लिये सदा उसका पालन करते रहना चाहिए। संसार-सागर दुःखों का आगार है, उससे पार होने के निमित्त रत्नत्रय का सेवन करना बड़ा ही आवश्यक है। जीव को यह समझ लेना चाहिए कि मैं अकेला हूं और यदि मेरा कोई सहायक हो सकता है तो वे भगवान जिनेन्द्र देव ही हैं। इस प्रकार शरीर से अपने को भिन्न समझ कर शरीर की ममता से मुक्त हो आत्म-ध्यान में संलग्न हो जाना चाहिए। यह शरीर सप्त धातुमय निन्दित है, दुर्गन्ध का घर है—ऐसा समझ कर बुद्धिमान लोगों को धर्म का ही आचरण करना चाहिए। अत्यन्त दुःख की बात है कि इस प्रकार का ज्ञान होते हुए भी लोग संसार-सागर में डूबे रहते हैं। कर्मों का नाश करने के लिये भव्य जनों को जिन-दीक्षा धारण करनी चाहिए।

यह ध्रुव सत्य है कि कर्मों के संवर से मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, अतएव गृहवास त्याग कर मुक्ति के उद्देश्य से संवर का प्रयत्न करना चाहिए। संसार में समस्त कर्मों की निर्जरा सत्पुरुषों के तप से हुआ करती है। ऐसा समझ कर सदा निष्पाप तप में संलग्न रहना चाहिए।

वस्तुतः इस दीन जगत को दुःख का स्थान समझ कर अनन्त सुख प्रदान करनेवाली मोक्ष की प्राप्ति के लिये संयम धारण करना चाहिए। मानव शरीर, उत्तम कुल, आरोग्यता, पूर्ण आयु, सुधर्म आदि को प्राप्त कर लेना बड़ा कठिन है; इसलिए बुद्धिमान लोगों को अपने हित-साधन में सर्वदा संलग्न रहना चाहिए। केवली भगवान ने इस प्रकार त्रैलोक्य का सुख प्रदान करने वाला तथा दुःखों को विनष्ट करनेवाला धर्मोपदेश किया। केवली भगवान ने जिस धर्म का उपदेश किया, वह सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि तप के योग से एवं क्षमा आदि लक्षणों से युक्त होता है। उससे मोह और सन्ताप का सर्वथा नाश हो जाता है। मोक्ष की इच्छा रखनेवाले भव्य जीवों को मोक्ष-प्राप्ति के लिए उस धर्म का पालन करते रहना चाहिए। सुखी पुरुष को सुख की वृद्धि के लिये और दुःखी जीव के दुःख को विनष्ट करने के लिये धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

केवली भगवान पुनः कहने लगे—संसार में वही पण्डित और बुद्धिमान है, उसी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, वही जगत्पूज्य है, जो अन्यान्य कार्यों को अलग कर निर्मल आचरणों से धर्म का सेवन करता है। इस संसार को तथा अपनी आयु को विनश्वर समझ कर बुद्धिमान लोग संसार तथा गृह का परित्याग कर देते हैं। भगवान की दिव्य वाणी का चक्रवर्ती पर पर ऐसा हृदयग्राही प्रभाव पड़ा कि वह लौकिक भोग और राज्य से एकदम विरक्त हो गया। उसने मन में विचार किया—अत्यन्त खेद है कि मैं ने अज्ञान में संसार के विषय-भोगों का सेवन किया फिर भी इन्द्रियां तृप्त नहीं हुईं। अतः जो लोग भोगों में लिप्त रहना चाहते हैं, वे मूर्ख तेल द्वारा अग्नि को शान्त करना चाहते हैं। जीव को जैसे भोगों की उपलब्धि होती जाती है, उसी प्रकार उनकी तृष्णा बलवती होती चली जाती है। जिस शरीर द्वारा यह जीव सांसारिक भोगों का उपभोग करता है, वह शरीर अत्यन्त दुर्गन्ध मल और मल-मूत्रादिक का घर है।

यह राज्य भी पापों का कारण है। स्त्रियां पापों की खानि हैं और बन्धु वगैरह कुटुम्बी

-जन बन्धन के समान हैं और लक्ष्मी वेश्या के समान निन्दनीय है। वैषयिक सुख हलाहल के समान है और संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सबकी सब क्षणभंगुर है। अधिक क्या कहा जाय, रत्नत्रय के सिवा न तो कोई दूसरा तप है और न कोई जीवों का हित करनेवाला है। अतः अब मुझे ज्ञानरूपी तलवार से अशुभ मोहरूपी जाल काट कर मोक्ष के लिये जिन-दीक्षा धारण करनी चाहिए। अब तक का मेरा जीवन संयम के बिना व्यर्थ ही गया, किन्तु अब उसे व्यर्थ जाने देना किसी भी दशा में कल्याणकर नहीं हो सकता। मन में ऐसा विचार कर प्रियमित्र चक्रवर्ती ने अपने पुत्र सर्वप्रिय को राज्य का भार समर्पित कर रत्न-निधि आदि सारी सम्पदाओं का तृणवत परित्याग कर दिया।

उस चक्री ने मिथ्यात्वादि परिग्रहों का सर्वथा परित्याग कर मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्रदान करनेवाली अर्हत देव की कही गई जिन-दीक्षा धारण की। वह दीक्षा तीन लोक में देव, तियंच और मिथ्यात्वी मनुष्यों को दुर्लभ है। उस चक्रवर्ती के साथ संवेगादि गुणवाले हजारों राजा भी दीक्षित हुए। उन महामुनि ने प्रमाद रहित हो कर दो प्रकार का कठिन तप आरम्भ किया। उन्होंने उत्तरगुण और मूलगुण का उत्तम रीति से पालन किया। वे मन-वचन-कायकी गुप्ति से कर्मों के आस्रव को रोकने लगे। निर्जन वन, पर्वत और गुफाओं में वे ध्यान लगाते थे। उन्होंने अनेक देश, नगर और ग्रामों का विहार आरम्भ किया।

वे महामुनि भव्य जीवों के हित के लिये परम पावन जैन धर्म के तत्वों का उपदेश करने लगे। उनके प्रभाव से जैन मत की प्रभावना सर्वत्र फैली। अन्त में चारों प्रकार के आहारों का परित्याग कर उन्होंने मन-वचन-काय योगों को रोक कर सन्यास धारण कर लिया। वे अपने सामर्थ्य से क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों को प्रसन्न-चित्त हो कर सहने लगे। हरिषेण मुनीश्वर ने चारों आराधनाओं का पालन कर प्रसन्न-चित्त हो प्राणोंका त्याग किया।

पश्चात् वे मुनि तप से उपार्जन किये पुण्य के उदय से सहस्त्रार नाम के बारहवें स्वर्ग में सूर्यप्रभ नामक महान देव हुए। उत्पन्न होने के थोड़ी देर बाद ही वे यौवनावस्था को प्राप्त

हो गये। उन्हें अवधिज्ञान से पूर्व जन्म के तप का प्रभाव सम्पूर्ण रूप से परिज्ञात हुआ। वह देव अत्यन्त धर्मानुरागी हुआ। वह धर्म की प्राप्ति के लिये जिन-प्रतिमाओं के दर्शन के लिये गया। वहां परिवार वर्ग के साथ उसने पापों को विनष्ट करनेवाली जिन-बिम्बों की पूजा की।

वह सदा अपनी इच्छा से चैत्यवृक्षों के नीचे प्रतिष्ठित अर्हन्त भगवान की पूजा किया करता था। केवल यही नहीं, वह दोनों लोकों में जा-जा कर अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा करने लगा। एक दिन उसने नन्दीश्वर द्वीप में जा कर तीर्थंकर और मुनीश्वरों की वन्दना की। वह बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने स्थान को लौटा। उस देव ने पुण्य से प्राप्त हुई लक्ष्मी, अप्सरा और विमानादि विभूतियों को ग्रहण कर इन्द्रिय-तृप्ति करनेवाले महान भोगों का उपभोग करना आरम्भ किया।

उसे सप्त धातु वर्जित साढ़े तीन हाथका दिव्य शरीर और अठारह सागर की आयु प्राप्त हुई। अठारह हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर वह देव कण्ठ से झरनेवाले अमृत का पान करता था और नव मास के पश्चात् श्वासोछ्वास लेता था। उसे अवधिज्ञान से चौथे नरक तक की जानकारी और विक्रिया करने की शक्ति प्राप्त थी। वह अपनी देवियों के साथ वन और पर्वतों पर क्रीड़ा करने में रत हुआ। कहीं बाजों की सुमधुर ध्वनि से, कहीं महा-मनोहर गीतोंसे, कहीं देवांगनाओं के श्रृंगार-दर्शन से, कभी धर्म-चर्चा से, कभी केवली भगवान की पूजासे, कभी तीर्थंकरों के पंच-कल्याणकादि उत्सवों से प्रसन्न-चित्त हो वह अपने समय को व्यतीत करने लगा।

इसी जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में एक अत्यन्त रमणीक नगर है। धर्म की खानि उस नगर का नाम छत्राकार है। उस समय इस नगर का राजा नन्दिवर्द्धन था। वीरवती नाम की उसकी सुशीला रानी थी। उक्त देव स्वर्ग से चय कर उन दोनों के नन्द नाम का पुत्र हुआ। उसके सौन्दर्य और गुणों से सारे नगर को प्रसन्नता हुई। उसका जन्मोत्सव बड़े आनन्द से

मनाया गया। वह बालक चन्द्रकला की भांति बढ़ने लगा। क्रम से उसने शास्त्र-विद्या और शस्त्र-विद्याओं का अध्ययन किया। उसकी प्रतिभा यहां तक बढ़ी कि वह देवों के सदृश जान पड़ने लगा। अनन्तर योवन अवस्था में अपने पिता द्वारा राज्य-पद पा कर वह विभिन्न प्रकार के भोगों का उपभोग करने लगा। उसने निशंकादि गुणों के साथ निर्मल सम्यक्त्व को धारण किया। श्रावकों के बारह व्रतों का वह अच्छी तरह से पालन करने लगा। वह राजा नन्द पर्व के दिनों में आरम्भ रहित उपवास करता हुआ मुनिवर्ग को बड़ी भक्ति से प्रति दिन आहार-दान दिया करता था। धर्म की वृद्धि के लिये वह जिनालयों में जिनेन्द्र देव की पूजा और गणधरादि योगियों की यात्रा में जाया करता था। वस्तुतः धर्म से मनोवांछित फल की प्राप्ति हुआ करती है। उससे संसार के ऐहिक सुख उपलब्ध होते हैं और संसार-सुख की इच्छा त्याग देने से अविनश्वर स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। ऐसा विचार कर उसने लोक-परलोक में सुख प्राप्ति के उद्देश्य से समस्त सुख के मूल धर्म का सेवन करना आरम्भ किया।

वह स्वयं शुभ आचरण करता था और दूसरों को प्रेरणा भी देता था। धर्म के फल से प्राप्त हुए समग्र सुखों का उपभोग करता हुआ वह समय व्यतीत करने लगा। निर्मल चरित्र के सम्बन्ध से राजा नन्द को उत्तम भोगों की उपलब्धि हुई।

षष्ठ प्रकरण

किये विनष्ट विवेक से, मोह-शत्रु अपकर्म ;
करे सिद्ध शुभ कार्य वे, वीर प्रवर्तक धर्म।

जिन्होंने विवेक अर्थात् ज्ञान से मोहरूपी शत्रुओं और कर्मों के समूह विनष्ट किये, वे धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर मेरे समस्त कार्यों को सिद्ध करे।

एक बार की घटना है—वह नन्द राजा भव्य जीवों को साथ ले कर धर्मोपदेश श्रवण करने के उद्देश्य से प्रोष्ठिल मुनि की वन्दना के लिये गया। वहां जा कर वह भक्तिपूर्वक अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा, वन्दना कर उनके चरणों के निकट बैठ गया। श्रेष्ठ श्रोता समझ कर

मुनिने उसको धर्मोपदेश देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा-बुद्धिमान! उत्तम-क्षमाके द्वारा तू श्रेष्ठ-धर्मका पालन कर। उत्तम-क्षमा उसे कहते हैं, जिससे दुष्ट जनों के उपद्रव होते रहने पर भी धर्मका विनाश करने वाले क्रोधकी उत्पत्ति न हो। धर्मवृद्धि के लिये बुद्धिमानोंको मार्दवका पालन करना चाहिए। मार्दवका अर्थ है—मन, वचन, कायको कोमल करके मानका परित्याग करना। सत्पुरुषोंको चाहिए कि वे आर्जव धर्मका पालन करें। आर्जव धर्म मनकी कुटिलताको त्याग देनेसे प्राप्त होता है। सर्वदा सत्य बोलना चाहिए। ऐसे वचनका कभी भी उच्चारण न करे, जिससे किसी को कष्ट पहुंचे। असत्य भाषणका सर्वथा त्याग कर दे। इन्द्रिय, अर्थ आदि वस्तुओं की ओर से लोभी मन को रोक कर शौच का पालन करना उत्तम कहा गया है। जल द्वारा किये गये शौच को धर्म का अंग कदापि न समझे। त्रस-स्थावर छः प्रकार के जीवोंकी रक्षा कर इन्द्रिय-मन पर नियन्त्रण कर धर्म-सिद्धि के उद्देश्यसे संयम धारण करना चाहिए। धर्म के कारण शास्त्र-अभय-दानादि रूप त्याग-धर्मका पालन करे। सुख-प्राप्तिके लिये आकिंचन-धर्मका पालन श्रेयस्कर होता है। इसकी प्राप्ति परिग्रहों के त्यागसे होती है। धर्म-प्राप्ति की आकांक्षा रखनेवाले को ब्रह्मचर्य का पालन नितान्त आवश्यक होता है। गृहस्थ के लिये अपनी स्त्रीको छोड़ कर सबका त्याग उत्तम कहा गया है और मुनि के लिये तो सभी स्त्रियों का ही त्याग बताया गया है।

जो भव्य जीव इन सारभूत लक्षणोंसे युक्त मुनिगोचर परम धर्मका पालन करते हैं, वे संसार के सभी सुखोंका उपभोग कर अन्तमें मुक्तिके अधिकारी होते हैं। यदि किसीसे धर्मका सम्यक पालन न हो सके, तो नाम मात्र भी स्मरण कर लेना चाहिए। उसीसे सुखकी प्राप्ति होगी। ऐसा धर्मका माहात्म्य समझ कर विवेकी पुरुषों को चाहिए कि वे इन क्षणभंगुर शारीरिक भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न कर लें। उन्हें बाह्य इन्द्रियों को जीत कर अपनी सारी शक्ति लगा कर धर्म-साधनमें लीन हो जाना चाहिए। मुनिराज की अमृत-सदृश वाणी सुन कर नन्द राजा के मनमें विवेक उत्पन्न हुआ। उसने विचार किया कि यह

संसार अनन्त दुःखों का आगार है, आदि और अन्तसे रहित है, अतः इससे भव्य जीवोंको प्रीति कैसे हो सकती है? यदि यह संसार दुःखकी खान न होता तो सांसारिक दुखोंसे परिपूर्ण तीर्थंकर देव मोक्ष के लिये इसका परित्याग क्यों करते? भला भूख-प्यास, रोग-क्रोधादि रूप अग्निसे जलनेवाले शरीररूपी झोंपड़ेसे धर्मात्मागण कैसे प्रीति कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते।

केवल यही नहीं, जिस स्थल पर इन्द्रियरूपी चोरं धर्मरूपी धनको चुरानेवाले हों, भला उस शरीर में कौन बुद्धिमान निवास करना चाहेगा? जहां जन्मसे आरम्भ कर मृत्यु के बाद भी दुःख ही दुःख है, जहांके भोग दाहको तीव्र करनेवाले हों, उसे कौन बुद्धिमान आमन्त्रित करेगा? भोग सर्वथा दुःख उत्पन्न करनेवाले होते हैं। अतः महापुरुष उन्हें सर्वथा परित्याग कर देते हैं; पर वे भोग पुण्यहीन पुरुषों को भी सुख नहीं दे सकते। यदि वस्तुतः भोगसाधक इन्द्रिय-सुखके वस्तु का विचार किया जाय तो उससे अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती है, इसलिये यह निश्चित है कि भोग कोई शुभ वस्तु नहीं है।

इस प्रकार विचार करने के बाद राजा को वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने उसी योगीको दीक्षा-गुरु बना कर दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़ परम शुद्धिसे जन्म-जन्म के दुःखों से मुक्त होने के लिये मुनिव्रत ग्रहण लिया। उस राजाने गुरु की कृपासे अति अल्प कालमें ही शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। वह अपनी शक्तिको प्रकट कर कर्म नष्ट करनेवाले बारह प्रकार के तपोंका आचरण करने लगा।

उस मुनिने ६ मास तक कठोर अनशन व्रत किया। यह व्रत कर्मरूपी पर्वतको विनष्ट करने के लिये वज्रके समान है। निद्रा कम करने के लिये उस मुनिने अवमौदर्य तपको धारण किया। जितेन्द्रिय मुनिराजने तृष्णा नाश करनेवाला वृत्ति-परिसंख्यान तपका पालन आरम्भ किया। अतीन्द्रिय सुखके लिये उन्होंने रस-परित्याग तप को धारण किया। वे ध्यानाध्ययन करनेवाले मुनि स्त्री आदि रहित वनों और गुफाओं में विविक्त-शय्यासन

यह शुक्ल-ध्यान सर्वश्रेष्ठ है, विकल्प-रहित है और साक्षात मोक्ष प्रदान करनेवाला है। मुनिने बारह भेद रूप महान तप का आचरण किया जो कर्मरूपी शत्रुओं का संहारक है। वह केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है और वांछित अर्थ को सिद्ध करने वाला है। कठिन तप के प्रभाव से उन्हें दिव्य ज्ञानादि अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुईं। ये ऋद्धियां अविनश्वर सुख प्रदान करने वाली होती हैं।

मुनि का स्वभाव अत्यन्त सरल हो गया। वे सब प्राणियों पर दयाभाव रखते थे। धर्मात्मा पुरुषोंको देख कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी और वे उनका बड़ा आदर करते थे; पर वे मिथ्यादृष्टि जीवों से सदा उदासीन रहा करते थे। मैत्री आदि चारों प्रकार की भावनाओं में लीन उन मुनि को स्वप्न में भी राग-द्वेष नहीं होता था। वे दर्शन-विशुद्धि आदि गुणों में लीन थे। एक दिन उन्होंने तीर्थंकर की सम्पदा प्रदान करनेवाली सोलह कारण भावनाओं को ग्रहण किया। वे भावनायें निम्न प्रकार थीं :—

उन सोलह भावनाओंमे पहली भावनामें उन्होंने दर्शन विशुद्धि के लिये शंकादि पच्चीस दोषों को त्याग कर निशंकादि आठ गुणोंको स्वीकार किया। जिनेन्द्र भगवान के कथनानुसार सूक्ष्म तत्वों के विचार में प्रमाणिक पुरुष से शंका की निवृत्ति कर 'निःशंकित' अंग का पालन करना आरंभ किया। उन्होंने तपसे इस लोक और पर-लोक के सुखों को नरक का कारण समझ उसे परित्याग कर 'निःकांक्षित' अंगको धारण कर लिया। रत्नत्रयादि गुणों को धारण करनेवाले योगियों के शरीर पर मैल तथा रोग देख कर उससे ग्लानि नहीं उत्पन्न हो, ऐसी 'निर्विचिकित्सा' अंग का पालन वे करने लगे। मुनि ने देव गुरु शास्त्र की परीक्षा धर्मरूपी ज्ञानभेदसे कर मूढ़ता का त्यागपूर्वक 'अमूढ़त्व' अंग को स्वीकार किया।

जिन-शासन में अज्ञानी, असमर्थ पुरुषों के सम्बन्ध से प्राप्त हुए दोषों को छिपाया जानेवाला 'उपगूहन' गुण को वह पालने लगा। जीवों को दर्शन, तप, चारित्र से युक्त उपदेशादि द्वारा दर्शनादि गुणों में स्थिर करने वाला 'स्थितिकरण' अंग का आचरण

करने लगा। वह साधर्मी भाईयों से गो-वत्स की भांति 'वात्सल्य गुण' का पालन करने लगा। उसने मिथ्यात्व से दूर रह कर जैन धर्म के माहात्म्य को प्रकाशित करनेवाला 'प्रभावना' का पालन आरम्भ किया।

उसने संयमी राजा की भांति अष्ट गुणों से सम्यग्दर्शन को पुष्ट किया। सम्यग्दर्शन के प्रभावसे उसने कर्म-रूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया। देव, लोक और गुरु तीनों मूढ़ताओं को त्याग दिया। इस मुनि ने जगत को अनित्य समझ कर अष्ट मदों को छोड़ा। मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र और इसके धारक छः प्रकार के अनायतनों को भी सर्वथा त्याग दिया।

मुनि ने निःशंकादि गुणों के विपरीत शंकादि आठ दोषों का त्याग किया। अपने ज्ञानरूपी जलसे सम्यक्त्व के पच्चीस मलों को धो कर उसे निर्मल कर दर्शन-विशुद्धि भावना का वह पालन करने लगा। उस मुनिने संवेग, वैराग्य, उपशम, भक्ति-वात्सल्य, अनुकम्पा आदि गुणों से रहित होकर तीर्थंकर की उपाधि का प्रथम सोपान दर्शन-विशुद्धि पर आरोहण किया।

वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, व्यवहार, विनय एवं ज्ञानादि गुणों को धारण करने वालों का विनय मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक करने लगा। वह सदा शास्त्रों के अध्ययन में लीन रहता था। साथ ही उसके यहां अनेक शिष्य पढ़ने के लिये आया करते थे। उसे देह-भोग और संसार के प्रति बड़ी अनास्था हुई। वह इनसे बड़ा भयभीत हुआ। उस नन्द नाम के योगी ने मुनियों को ज्ञान-दान, अन्यान्य जीवों को अभयदान और समग्र जीवों को सुख देने वाला धर्मोपदेश आरम्भ किया।

वह मुनि दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओं को विनष्ट करने के उद्देश्य से निर्दोष तप करने लगा। वह सदा से पीड़ित और समाधिमरण करनेवाले असमर्थ साधुओं की सेवा में संलग्न रहने लगा। उन्हें वह धर्मोपदेश भी दिया करता था। वह मोक्ष के लिये मुनियों की वैयावृत्य

करने लगा। मुनि ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाली अर्हन्त भगवान की महती पूजा आरम्भ की। वह छत्तीस गुणों के धारक आचार्य की रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये भक्ति करने लगा। संसार को प्रकाशित करने वाले और अज्ञानरूपी अन्धकार को नाश करनेवाले उपाध्याय मुनीश्वरों की उसने बड़ी भक्ति की। साथ ही वह जिनवाणी का अध्ययन करने लगा।

उस योगीने समता, स्तुति, त्रिकाल-वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग-सिद्धान्त में प्रकट किये गये छः आवश्यक पापों को विनष्ट करने के लिये योग्य समय में नियम धारण किया। भेद-विज्ञान से, तपस्या से, उत्कृष्ट आचारणोंसे सदा जीवोंकी रक्षा करनेवाले जैन धर्म की वह प्रभावना किया करता था। सम्यग्ज्ञानी पुरुषों का आदर और धर्मात्माओं से वात्सल्य भाव रखता था।

वह इस प्रकार तीर्थंकर की विभूति प्रदान करनेवाली सोलह कारण भावनाओं का शुद्ध मन-वचन-कायसे चिन्तवन करने लगा। इन भावनाओं के चिन्तवन के फलस्वरूप उसे अनन्त महिमायुक्त 'तीर्थंकर' नाम-कर्म का बन्ध हुआ। जिस 'तीर्थंकर' नाम के प्रभाव से इन्द्र का आसन भी हिल उठता है, मोक्षरूपी लक्ष्मी स्वयं आकर जिनका आलिंगन करती है, उस पद का बन्ध होना क्या सरल है? इसके बाद उक्त मुनि ने निर्दोष चारित्र का पालन करते हुए समाधि मरण धारण किया। पुनः सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तपरूपी चार आराधनाओं का पालन करते हुए उसने प्राणों को छोड़ा।

उक्त समाधि के परिणाम-स्वरूप नन्द नामा मुनि सोलहवें स्वर्ग में जाकर देवों के पूज्य अच्युतेन्द्र हुए। अन्तर्मुहूर्त में उन्हें पूर्ण यौवन प्राप्त हुआ और वे वस्त्र, माला आदि आभूषणों से सुशोभित हुए। अपनी कोमल शय्या से उठ कर वे सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को देखने में संलग्न हो गये। स्वर्ग के विमान आदि वस्तुओं को देख कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे—मैं कौन हूं? यह स्थान कौन-सा है, जहां सुख ही सुख दृष्टि-गोचर हो रहे

हैं ? दुःख का तो लेश भी नहीं। ये अत्यन्त चतुर और प्रियदर्शन देव कौन हैं ? ये सुन्दरी देवांगनायें और आकाश में लटकने वाली अट्टालिकायें किसकी हैं ?

ये बड़े ऊँचे सभा-मंडप और देव-रक्षित मनोज्ञ सेनायें किसकी हैं ? यह दिव्य ऊँचा सिंहासन किसका है और ये सम्पदायें किसकी हैं ? ये सुन्दर विनयी लोग मुझे देख कर हर्ष क्यों मना रहे हैं। किस कर्म की प्रेरणासे मैं यहां आया हूं। इन्हीं सब विषयों पर इन्द्र चिन्ता कर रहे थे और उनका सन्देह दूर भी न हो पाया था कि उनके चतुर मंत्री ने अवधिज्ञानसे उनके अभिप्रायको समझ समीप आकर उनके चरणकमलोंमें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। वह दोनों हाथ जोड़ कर उनके संशयकी निवृत्ति के लिये प्रिय वचन कहने लगा—

देव, हम पर दयादृष्टि रखकर अपने सन्देह-निवारणके लिये मेरे वचनों को सुनिये। नाथ! आज हम अपने सफल जीवन का अनुभव कर रहे हैं। हम धन्य हैं कि आपने अपने आगमन से इस स्थान को पवित्र किया। समग्र सम्पदाओं का आगार यह अच्युत नामका स्वर्ग है। यह सब स्वर्गों की मुकुटमणि के समान शोभायमान है। यहां पर मनोवांछित वस्तुओं की सर्वदा प्राप्ति होती रहती है। तीनों लोकों में भी दुर्लभ, अगोचर इन्द्रिय-सुख यहां पुण्यात्माओं को सुलभ है। यहां पर समस्त कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न स्वतः ही प्राप्त होते हैं। यहां सारी सम्पदाओं की प्राप्ति होने में जरा भी परिश्रम नहीं होता। यहां किसी प्रकार के ऋतु-कष्ट का कोई कारण नहीं है।

यहां पर किसी समय भी दिन-रात्रिका भेद नहीं होता। सदा रत्नों का प्रकाश होता रहता है। दीन-दुःखियों का यहां नाम-निशान भी नहीं है। यह ऐसी पुण्यभूमि है कि जिनालयों में सर्वदा जिनेश्वर भगवान की पूजा-अर्चना होती रहती है। नृत्य-गीतादिसे प्रति-दिन महान उत्सव सम्पन्न हुआ करते हैं। यहां असंख्य देव-विमान हैं। दश हजार सामानिक देव हैं। वे भी आप के ही समान ऋद्धिधारी हैं, पर वे आदेश नहीं कर सकते। ये तैंतीस देव-समूह प्रेम से परिपूर्ण आपके पुत्र के तुल्य हैं। आत्मरक्षक देवों की संख्या

चालीस हजार हे। वे सिपाहियों के समान अंगरक्षक हैं। मध्य सभा के देव ढाई सो हें और पांच सो बाहर की सभा के हैं। चार लोकपाल कोतवाल की भांति हैं। इन लोकपालों की ३२-३२ देवियां हैं। वे सुख की खानि है। ये आपकी आज्ञा पालन करने वाली आठ महादेवियां हैं।

इन्हीं महादेवियों के परिवार की देवियों की संख्या ढाई सौ है। ये त्रेसठ वल्लभिका देवियां महान सम्पदा युक्त आपके चित्त को हरण करनेवाली हैं। ये दो हजार इकहत्तर देवियां विदुषी हैं। ये महादेवियां एक लाख चौबीस हजार दिव्य रूपों की विक्रिया कर सकती हैं अर्थात् प्रत्येक देवी एक लाख चौबीस हजार स्त्रियों के रूप बना सकती हैं। हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे, बैल, गन्धर्व और नर्तकी—ये देव सेना के सात अंग है। इनमें से प्रत्येक सेना की सात-सात पलटनें हैं और हर एक सेना के सेनापति देव हैं। पहली हाथी की सेनामें बीस हजार हाथी हैं तथा शेष अन्य सेना मे हर एक में इससे दूनी सेना है। इसी प्रकार अन्य सेनाओंमे भी समझना चाहिए। ये सभी आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत हैं।

एक-एक देवी-अप्सराओं की तीन-तीन सभायें हैं। वहां पर नृत्य-गीत, वाद्य-वादन आदि कलाओं की शिक्षा दी जाती है। प्रथम परिषदमें पच्चीस अप्सरायें हैं, दूसरी में पचास और तीसरी मे सौ हैं। आपके पुण्योदय से ये समग्र दिव्य सम्पदायें आपके समक्ष उपस्थित हैं। अब आप स्वर्ग-राज्य के अधिपति बनें और अनुपम सम्पदाओं को प्रसन्नचित्त हो ग्रहण करें।

अपने चतुर मन्त्री के वचन सुन कर अवधिज्ञान से अच्युतेन्द्र को अपने पूर्व भव का सारा वृत्तान्त ज्ञात हो गया। धर्म का साक्षात् फल देख कर धर्म-साधना में वे और भी तत्पर हुए। वे पूर्व भव के सूचक वचन करने लगे—

मैंने पूर्व जन्ममें निष्पाप और घोर तप किया था। शुभ-ध्यान और अध्ययन योग भी किये थे। संसार-पूज्य पंच परमेष्ठी की थी और रत्नत्रय की प्राप्तिके लिए उत्तम भावनाओं

का चिन्तवन किया था। मैंने विषयरूपी वन को जला दिया था, कामदेव जैसे प्रबल शत्रु को परास्त किया था, कषाय और परीषहों पर विजय पाई थी। पूर्व भवमें मैंने अपनी सारी शक्ति लगा कर उत्तम क्षमा आदि दश लाक्षणिक धर्म का पालन किया था। उसीका यह शुभ फल है कि आज मैं इन्द्र-पद पर आसीन हूं अर्थात् ये समस्त ऋद्धियां धर्म के पालन से ही प्राप्त हुई हैं। वस्तुतः धर्म के समान दूसरा कोई मित्र नहीं है; धर्म ही संसार-सागर से पार उतारनेवाला है; वांछित अर्थोंका प्रदाता धर्म ही है। वह मानव जीवनको उन्नत बनानेवाला तथा पापरूप शत्रुओं का संहारक है। समस्त जीवोंको सुख प्रदान करनेवाला तथा स्वर्ग-मोक्ष प्रदान करनेवाला धर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं है। ऐसा जान कर सुख की आकांक्षा रखनेवाले भव्य पुरुषोंको किसी भी अवस्था में निर्मल आचरण युक्त होकर धर्म-साधना करनी चाहिए।

इस प्रकार विचार करते हुए अच्युतेन्द्रने अपने मनमें सोचा—यह तो ठीक है, पर चारित्र तो इस स्थल पर पालन नहीं किये जा सकते, तब मुझे क्या करना चाहिए? यहां तो एक दर्शन-शुद्धि ही पालन की जा सकती है। अतएव श्री जिननाथ की भक्ति और उनकी मूर्ति की महान पूजा करना ही श्रेयस्कर है।

ऐसा निश्चय कर वे अच्युतेन्द्र अपनी देवियों को साथ लेकर अकृत्रिम चैत्यालयों में गये। वहां अत्यन्त भक्ति के साथ नमस्कार कर भगवान की पूजा-आराधना में रत हुए।

उन्हें पूजा के लिये अष्ट द्रव्य इच्छा-मात्र से प्राप्त होते थे। वे उन्हीं द्रव्यों से भगवान की पूजा करने लगे। उन्होंने चैत्य वृक्षों के नीचे विराजमान जिन प्रतिमाओं की पूजा कर तथा मनुष्यलोक और मध्य लोक की जिन-प्रतिमाओं की पूजा कर महान धर्म का उपार्जन किया। वे मुनीश्वरों से धर्म-तत्वों का व्याख्यान सुन कर धर्म का उपार्जन करने लगे।

इस प्रकार धर्म के फल से उन्हें अनेक सम्पदायें प्राप्त हुईं। उन्होंने तीन हाथ ऊँचा, पसीना, धातु, मल से रहित, नेत्रों की टिमकार रहित दिव्य शरीर प्राप्त किया। उन्हें

नरक की छट्ठी पृथ्वी तक का अवधिज्ञान था और उन्हें विक्रिया-ऋद्धि प्राप्त हुई। ज्ञान के समान ही क्षेत्रों में गमन-आगमन में समर्थ विभिन्न भूषणों से शोभायमान बाईस सागर की आयु भी उस इन्द्र को प्राप्त हुई।

बाईस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर वे मानसिक दिव्य अमृत का आहार करते थे। ग्यारह मास बीतने पर सुगन्धित श्वास लेते थे। वे सुरेश, तीर्थंकरों के पांचों कल्याणकों में तथा केवलियों के दोनों कल्याणकों में जाया करते थे, देवों द्वारा पूज्य सुरेन्द्र सदा पूजा आदि महोत्सवों में जा-जा कर धर्म की अभिवृद्धि किया करते थे। उन्हें सुख की सारी सामग्रियां उपलब्ध हुईं।

इस प्रकार वे अच्युतेन्द्र सुख-सागर में निमग्न हुए। धर्म के फलस्वरूप उन्हें जो सम्पदायें प्राप्त हुईं उनका वर्णन करना असम्भव है। उन्होंने दिव्य भोगों का उपभोग किया। ऐसा समझ कर बुद्धिमान जन शम-दम और संयम से सदा धर्म का सेवन किया करते हैं।

सप्तम प्रकरण

लोकपाल जिनका सदा, करते सदगुण गान;
करें विघ्न सब नष्ट वे; पार्श्वनाथ भगवान।

जिन महाप्रभु के सद्गुणों का गान लोकपतियों के द्वारा सर्वदा हुआ करता है, वे पार्श्वनाथ भगवान समग्र विघ्नों (ग्रन्थ निर्माण सम्बन्धी आनेवाले उत्पातों) को नष्ट करें अर्थात् ग्रन्थ निर्माण में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने न दें।

भरत क्षेत्र में विदेह नामक एक विस्तृत देश है। धार्मिक पुरुषों का निवास-स्थान होने के कारण वह विदेह क्षेत्र जैसा ही शोभायमान है। इस स्थल से कितने ही मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है। नाम के अनुसार इस स्थान का गुण भी सार्थक है। यहां के निवासी कोई सोलह कारणादि भावनाओं का विचार कर तीर्थंकर नाम-कर्मका बन्ध करते हैं, कोई

पंचोत्तर नाम के अहमिन्द्र स्थान में पहुंचते हैं। भक्तिपूर्वक उत्तम पात्रको दान देने से भोग-भूमि में जन्म ग्रहण कर लेना तो यहां के निवासियों के लिये सामान्य-सी बात है। यहां तक कि यहां के कोई भी भव्य जीव भगवान की पूजा के फलस्वरूप इन्द्र-पद वाच्य हो जाते हैं।

यह स्थान अर्हन्त केवली भगवान की मोक्षभूमि है। कारण, यहां स्थान-स्थान पर मोक्षस्थान हैं। इस भूमि को मनुष्य, देव और विद्याधर सभी नमस्कार करते हैं। यहां के वन-पर्वत ध्यानी योगियों से अत्यन्त शोभायमान हैं और बड़े ऊँचे भव्य जिनालयों को देख कर महान धार्मिक स्थानका बोध होता है। विदेह के ग्राम, मुहल्ले सभी जिनालयों से सुशोभित हैं। यहां का मुनिसमूह चारों प्रकार के संघ के साथ धर्म की प्रवृत्ति के लिये विहार किया करता है।

इसी विदेह के ठीक मध्यमें कुण्डलपुर नाम का एक अत्यन्त रमणीक नगर है। यहां पर विशिष्ट धर्मात्माओं का निवास है। यहां के कोट, दरवाजे अलंघ्य खाइयों को देख कर अपराजिता अयोध्या नगरी का भान होता है। इस नगरमें सर्वदा तीर्थंकरों के जन्म-कल्याणक के महान उत्सव सम्पन्न हुआ करते थे। देवगणों की यात्रा से इस नगर में सदा कोलाहल मचा रहता था। यहां के ऊँचे और स्वर्ण-रत्नों से निर्मित जैन-मन्दिरों को देख कर लोगों की कुण्डलपुर के प्रति अपार श्रद्धा होती थी। वह नगर धर्म का समुद्र जैसा प्रतीत होता था। वहां के जिनालय 'जय-जय' शब्द, स्तुति, नृत्य, गीत आदि से सर्वदा मुखरित होते थे। स्वर्ग के उपकरणों सहित रत्नमयी प्रतिमाओं का दर्शन कर लोग कृतार्थ हो जाया करते थे।

यहां के जिन-मन्दिरों की पूजा-आराधना के लिये सदा जन-समूहकी भीड़ लगी रहती थी। दर्शनार्थ आनेवाले भव्य जीव देवों जैसे प्रतीत होते थे। वहां के दानी स्त्री-पुरुष अपने यहां अतिथि या मुनि के आगमन की प्रतीक्षा किया करते थे। वे पात्र-दान देनेमें बड़े उदार थे। इस नगर के ऊँचे परकोटे देख कर यह भान होता था कि वे उच्च-स्थान दान के लिये

स्वर्ग के देवोंको बुला रहे हैं। इस नगर के निवासी दाता, धर्मात्मा, शूर-वीर, व्रतशीलादि से युक्त ओर संयमी होते थे। वे जिनदेव तथा निर्ग्रन्थ गुरुकी भक्ति, सेवा ओर पूजामें सदा तत्पर रहा करते थे। उनका धार्मिक कार्य सदा जारी रहता था। इस प्रकार वे बड़े ही धनवान, सुखी और बुद्धिमान थे।

उस नगर के राजा का नाम सिद्धार्थ था। वे हरिवंश रूपी गगनको सुशोभित करने-वाले साक्षात् सूर्य थे। वे महाराज मति, श्रुति, अवधि—तीनों ज्ञान को धारण करनेवाले थे। उन्होंने सदा नीति मार्गको प्रश्रय दिया। वे जिनदेव के भक्त, महादानी और दिव्य ज्ञान के धारक थे। उनकी सम्यग्दृष्टि बड़ी प्रजल थी। उन के चरणोंकी सेवा बड़े-बड़े विद्याधर, भूमिगोचरी और देव किया करते थे। उनका पुण्य बड़ा प्रबल था। वे समस्त राजाओं मे इन्द्र के सदृश शोभायमान थे।

उनकी त्रिशला नामकी अत्यन्त रूपवती महारानी थी। उनकी प्रवृत्ति भी महाराज जैसी ही थी। वे पति-परायणा बड़ी साध्वी थीं। उनकी कान्ति और अलौकिक सुन्दरता सरस्वती जैसी थी। उनके चरण कमल जैसे प्रतीत होते थे। उनकी नखरूपी किरणोंसे सारा राजमहल शोभायमान हो रहा था। उनके दोनों सुन्दर जानु कदलीस्तम्भ जैसे थे। गहरी नाभियुक्त रानी को देख कर रति भी थोड़ी देर के लिये संकुचित हो जाती थी। उन के कोमल कण्ठों के और हाथों के आभूषण सारे राजमहल को प्रकाशित कर रहे थे। कानों के कुण्डलोंसे शोभायमान अष्टमी के चन्द्रमा की भांति मस्तकवाली मनोज्ञ भोंहें और नील केशसे युक्त रानी का स्वरूप ऐसा प्रतीत होता था कि संसार के सुन्दरसे सुन्दर परमाणुओं के द्वारा उनका निर्माण किया गया हो।

इसके अतिरिक्त उनके अंग-उपांगों की स्त्रियोचित बनावट बड़ी ही आकर्षक और भव्य थी। वे देवी गुणरत्नों की खानि, अनेक शास्त्रोंमें निपुण, सरस्वती देवी के सदृश प्रतीत होती थीं। वे इन्द्र की शची जैसी प्रियतम की प्यारी हुई; उन्हें महाराज का अत्य-

धिक स्नेह प्राप्त हुआ। महाराज और महारानी दोनों ही देवतुल्य सुखों का उपभोग करते हुए जीवन व्यतीत करने लगे।

पाठक वर्गको स्मरण होगा कि अच्युत स्वर्ग का इन्द्र बड़ी विभूति के साथ अपना समय व्यतीत कर रहा था। सौधर्म के इन्द्रने एक दिन कुबेरसे कहा—अब अच्युतेन्द्र की आयु केवल ६ मास बाकी रह गई है। अब ये इसी जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्रमें सिद्धार्थ महाराज की रानी त्रिशला के गर्भसे अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान के रूपमें जन्म ग्रहण करेंगे। अतएव इस नगरमें जा कर तुम्हें पूर्वसे ही रत्नों की वर्षा आरम्भ कर देनी चाहिए। साथ ही, शेष आश्चर्योंको भी पर-हित के लिये सम्पन्न करना चाहिए। इन्द्रकी ऐसा आज्ञा प्राप्त कर यक्षाधिपति कुबेर तत्काल ही मध्यलोकमें आ गया। उसने बड़ी प्रसन्नता के साथ महाराज सिद्धार्थ के राजमहलमें रत्नों की वर्षा आरम्भ कर दी। महलमें पड़ती हुई रत्नों की धारा ऐसी जान पड़ने लगी कि ऐरावत हाथी की सूंड़से ही धारा पड़ रही हो। उस समय रत्न-सुवर्णमयी वर्षा आकाशसे पड़ती हुई ऐसी प्रतीत होती थी, मानो प्रकाशरूपी माला माता पिताकी सेवा करने ही आ रही हों।

गर्भाधान के ६ मास पूर्वसे ही राजमहल कल्पवृक्ष के पुष्प, सुगन्धित जल, सुवर्ण और रत्नों की ढेरसे जगमगा उठा। रत्न-किरणों की जगमगाहट से वह महल सूर्यादि ग्रहचक्र के समान प्रकाशित होने लगा। उस समय सारे नगरमें इसी बात की चर्चा होने लगी। कितने ही भव्य लोगोंने कहा—देखो, यह तीन जगत के गुरु की ही अपूर्व महिमा है कि आज रत्नों की वर्षासे कुबेर राजमहल को परिपूर्ण कर रहा है। उनकी ऐसी बातें सुन कर और लोगोंने भी कहना आरम्भ किया—इसमें जरा भी आश्चर्य नहीं कि राजा के उत्पन्न होने-वाले पुत्र अर्हन्त की सेवा के लिये ही देवेन्द्रने भक्तिवश ऐसा किया है। उनकी ऐसी बातें सुन कर अन्य लोगोंने भी कहा—यह धर्मका ही प्रभाव है। उसी के फलस्वरूप पुत्र अर्हन्त के जन्म की प्रसन्नतामें रत्नों की अविराम वर्षा हो रही है। कारण यह है कि धर्म के प्रभावसे

हो तीनों लोकोंमें तीर्थंकर जैसे पूज्य-पद प्राप्त पुत्र का जन्म होता है। वस्तुतः संसार की दुर्लभसे दुर्लभ वस्तुएँ धर्म से सुलभ हो जाती हैं। किसी ने यह भी कहा है कि यह सर्वथा सत्य है कि धर्म अभाव में पुत्रादि इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। अतएव सुखकी प्राप्ति करनेवाले लोगों को प्रयत्न पूर्वक अहिंसा-स्वरूप दया-लक्षण रूप धर्म का सर्वदा पालन करते रहना चाहिए। यह धर्म निर्दोष अणुव्रत और महाव्रत के भेद से दो प्रकार का है।

एक दिन की घटना है—महारानी त्रिशला रात्रि को कोमल शय्या पर निद्रित थीं। पुण्योदय के कारण रात्रि के पिछले पहरमें उन्हें सोलह स्वप्न दीखे, जो सर्वथा कल्याणकारक और सौभाग्यसूचक हैं। सोलह स्वप्नोंमें उन्होंने सर्वप्रथम मदोन्मत्त हाथीको देखा। बादमें चन्द्रमा के सदृश शुभ कान्तिवाला ऊँचे कन्धेवाला बैल गम्भीर शब्द करता हुआ दिखाई दिया। तीसरा अपूर्व कान्ति वृहद शरीर, लाल कन्धेवाला सिंह था। चौथे स्वप्नमें कमल-रूपी सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी देवी को उन्होंने देव-हस्तियों द्वारा स्नान करती हुई देखा। पांचवां दो सुगन्धित मालायें थीं; छट्ठेमें ताराओं से घिरे हुए चन्द्रमा को देखा, जिससे सारा संसार आलोकित हो रहा था।

सातवें स्वप्नमें देवीने अन्धकार विनाश करनेवाले सूर्यको उदयाचल पर्वतसे निकलते हुए देखा। आठवेंमें कमल के पत्तोंसे आच्छादित मुखवाले सोने के दो कलश देखे। नवमें में ाब में क्रीड़ा करती हुई मछलियां देखीं। वह तालाब खिली हुई कुमुदिनी और कम- था। दशवें स्वप्नमें उन्होंने एक भरपूर तालाब देखा, जिसमें । ग्यारहवें में गम्भीर गर्जन करता हुआ चंचल तरंगों स्वप्न में उन्होंने दैदीप्यमान मणि से युक्त ऊँचा सिंहा काशित स्वर्ग का विमान था। चौदहवें स्वप्नमें रुणीन्द्र (भवनवासी देव) का ऊँचा भवन

रूपी किरणोंसे तीर्थनाथ भगवान श्रेष्ठ-मार्ग और पदार्थों का स्वरूप बताते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य अपनी किरणोंसे सब पदार्थों को प्रकाशमान कर रहा है। जैसे अर्हन्त के वचनरूपी किरणोंसे भव्य जीवों के मनरूपी कमल विकसित हो जाते हैं, वैसे ही सूर्यकी किरणें कमलोंको प्रफुल्लित कर रही हैं। अतएव हे देवी! अब प्रातःकाल हो गया, जो सब प्रकारसे सुख प्रदान करनेवाला है। धर्म-ध्यान के लिये इससे दूसरा समय नहीं। तुम शीघ्र ही शय्याका परित्याग कर नित्य कर्म करो। तुम्हें सामायिक, स्तवन आदिसे कल्याण-कारिणी सिद्धियां प्राप्त करनी चाहिए।

कुछ समय तक उसी प्रकार बाजों के शब्द और बन्दी जनों द्वारा मंगल गान होते रहे। महारानी त्रिशला एकाएक जाग उठीं। उन्हें प्रातःकाल के देखे हुए स्वप्नोंसे महान प्रसन्नता हुई। शय्या त्याग कर उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्यसे स्तवन, सामायिक आदि उत्तम नित्य कर्म आरम्भ किये। इस प्रकारकी नित्य क्रिया सर्वथा कल्याणकारिणी है और सब प्रकार से मंगल करनेवाली है।

पश्चात् महारानी ने स्नान करके शृङ्गार किया। वे आभूषणोंसे सुसज्जित हो सेवकों को साथ लेकर महाराज की सभामें गयीं। महाराज अपनी प्राणप्रियाको अपनी ओर आती हुई देख कर बड़े प्रसन्न हुए। बैठने के लिये उन्होंने रानी को अपना आधा आसन समर्पित कर दिया। महारानी प्रसन्न-चित्त हो उच्च आसन पर बैठ गयीं। उन्होंने बड़े मधुर शब्दों में महाराज से निवेदन किया—देव! आज रात्रि के तीसरे पहर में मैंने अत्यन्त आश्चर्यजनक स्वप्न देखे हैं। मेरी अभिलाषा है कि हाथी इत्यादि सोलह स्वप्नों का फल मुझे अलग-अलग आप सुनायें।

महारानी के मुख से स्वप्न की बातें सुन कर मति आदि तीनों ज्ञान के धारक महाराज सिद्धार्थ ने कहा—सुन्दरी! मैं इन स्वप्नों के शुभ फलों का शीघ्र ही वर्णन करूँगा। तुम सावधान होकर श्रवण करो। महाराज ने कहना आरम्भ किया—कान्ते! हाथी देखने का

फल हुआ कि तेरा पुत्र तीर्थंकर होगा और बैल देखने से फल हुआ कि वह धर्मचक्र का संचालक होगा। सिंह दर्शन से वह पुत्र कर्मरूपी हाथियों को विनष्ट करनेवाला अनन्त बलवाला होगा और लक्ष्मी का अभिषेक देखने का फल है कि सुमेरु पर्वत पर इन्द्रादि देवों द्वारा इस बालक का स्नान कराया जायगा।

स्वप्न में मालाओं के देखने से सुगन्धित शरीरवाला और श्रेष्ठ ज्ञानी होगा तथा चन्द्रमा के दर्शन से वह पुत्र धर्मरूपी अमृत-वर्षण से भव्य जीवों को प्रसन्न करनेवाला होगा। सूर्य के देखने से वह अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाशक तथा उन्हीं के समान कान्ति वाला होगा। जल से परिपूर्ण घड़ों के देखने का फल है कि वह अनेक निधियों का स्वामी तथा ज्ञान-ध्यान रूपी अमृत का घट होगा। मछली की जोड़ी देखने से सबके लिये कल्याण कारी तथा स्वयं महान सुखी होगा। सरोवर देखने से शुभ लक्षण तथा व्यंजनोंसे सुशोभित शरीर धारी होगा। समुद्र के देखने से नौ केवल-लब्धियों वाला केवलज्ञानी होगा तथा सिंहासन देखने से महाराज-पदवाच्य जगत का स्वामी होगा। स्वर्ग का विमान देखने का फल यह हुआ कि वह पुत्र स्वर्ग से आ कर अवतार धारण करेगा और नागेन्द्र भवन के अवलोकन से अवधिज्ञान रूपी नेत्र को धारण करनेवाला होगा। रत्नों के ढेर देखने से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि रत्नों की खानि होगा और निर्धूम अग्नि के दर्शन से वह कर्मरूपी ईंधन को भस्म करनेवाला होगा। अन्त में गजेन्द्र के दर्शन का फल यह हुआ कि वह अन्तिम तीर्थंकर स्वर्ग से चयकर तुम्हारे निर्मल पवित्र गर्भ में प्रवेश करेगा।

महाराज के सुख-कमलसे सोलहों स्वप्नों का फल सुन कर पतिव्रता महारानी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। उन्हें ऐसा लगा कि जैसे उन्हें पुत्र की प्राप्ति ही हो गई है। वे बड़ी प्रसन्न हुईं। उसी समय सौधर्म इन्द्र का आदेश पाकर पद्म आदि सरोवरों में निवास करनेवाली श्री, ह्री आदि छः देवियां राजमहल में आ गयीं। उन्होंने तीर्थंकर के गर्भाधान के लिये स्वर्ग से लाई हुई पवित्र वस्तुओं से माता के गर्भ का संशोधन किया, जिससे उन्हें

पुण्य की प्राप्ति हो। पुनः वे अपने शुभ गुणों को माता में स्थापित कर उनकी सेवा में संलग्न हो गयीं।

श्री देवी ने शोभा दी, ह्री देवी ने लज्जा, धृति देवी ने धैर्य, कृति देवी ने स्तुति, बुद्धि देवी ने श्रेष्ठ बुद्धि तथा लक्ष्मी देवी ने भाग्य प्रदान किये। जिन-माता बड़ी गुणवती हुईं। यों तो महारानी पहिले ही स्वभाव से पवित्र थीं, पर जब देवियों ने शुद्ध वस्तुओं से उन्हें शुद्ध किया तब तो वे मानो स्फटिक मणि से बनाई गई हों, ऐसी शोभायमान प्रतीत होने लगीं। इसके पश्चात् आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की शुद्ध तिथि षष्ठी को, आषाढ़ नक्षत्र में ओर शुभ लग्न में वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग से चय कर माता के शुद्ध गर्भ में आया। महावीर प्रभु के गर्भ में आते ही स्वर्ग के कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टे की ध्वनि होने लगी और इन्द्र का आसन कांप उठा।

ज्योतिषी देवों के यहां स्वयं सिंहनाद होने लगा। भवनवासी देवों के यहां शंख की महान ध्वनि हुई। साथ ही व्यन्तर देवों के महलों में भेरी की विकट आवाज हुई। केवल यही नहीं, और भी आश्चर्यजनक घटनायें घटीं। उक्त आश्चर्यजनक घटनाओं को घटते देख कर चारों जाति के देवों को यह ज्ञात हो गया कि महावीर प्रभु का गर्भावतरण हो गया है। पश्चात् वे स्वर्गपति भगवान का गर्भ-कल्याणक उत्सव मनाने के उद्देश्यसे नगर में पधारे। उस समय देवों के समूह को देखते ही बनता था। वे सर्वोत्तम सम्पदाओं से सुशोभित थे, अपनी-अपनी सवारियों पर आरूढ़ थे, उत्तम धर्म को पालन करने वाले तथा उद्यमी थे। अपने अंग के आभूषणों और तेज से दशों दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले थे। उन्होंने ध्वजा, छत्र, विमानादिकों से आकाश को ढँक दिया। वे देव अपनी देवियों के साथ 'जय-जय' शब्द कर रहे थे।

उस नगर का वातावरण देखने लायक ही था। विमानों, अप्सराओं और देवों की सेनाओं से घिरा हुआ वह नगर स्वर्ग जैसा सर्वोत्तम प्रतीत होने लगा। देवोंके साथ इन्द्रने

भगवान के माता-पिता को सिंहासन पर बिठा कर सोनेके घड़ोंसे स्नान कराया तथा उन्हें दिव्य आभूषण तथा वस्त्र पहनाये। माता के गर्भ-स्थित भगवान को सबों ने तीन प्रदक्षिणा दे नमस्कार किया।

इस प्रकार सौधर्म इन्द्र भगवान का गर्भ-कल्याणक सम्पन्न कर जिन-माता की सेवा में देवियों को रख देवों के साथ पुण्य उपार्जन करता हुआ बड़ी प्रसन्नता के साथ पुनः स्वर्ग को लौटा।

स्मरण रहे कि श्रेष्ठ धर्म का पालन करने से अच्युतेन्द्र देव ने सुख के समस्त साधनों का उपभोग कर तीर्थंकर पद को प्राप्त किया। ऐसा जान कर, हे भव्य पुरुषों! यदि तुम सुख प्राप्त करना चाहते हो तो, वीतराग भगवान के आदेश के अनुसार श्रेष्ठ धर्म का विधिवत पालन करो।

अष्टम प्रकरण

मोक्ता कल्याणक प्रभु, दाता वैभव सर्व;
त्राता गति-संसार के, करें कर्म सब खर्व।

जो गर्भादिक पंच कल्याणकों के भोक्ता हैं, जो समग्र विश्व को वैभव प्रदान करनेवाले हैं, जो सांसारिक चारों गतियों से प्राणियों की रक्षा करनेवाले हैं, वे भगवान महावीर मेरे समस्त कर्मों को नष्ट करें।

स्वर्ग से आई हुई देवियों में से कोई तो जिन-माता के समक्ष मंगल द्रव्य रखती थी, कई देवियोंने माता की शय्या का भार अपने ऊपर लिया, किसी ने दिव्य आभूषण पहनाने का भार लिया तथा किसी ने माला तथा रत्नों के गहने देने का। कई देवियां माताकी अंग-रक्षा के लिये नंगी तलवारों से सज्जित हो पहरा देती थीं और उनके लिए भोग्य सामग्रियों को एकत्रित करने में संलग्न थीं। कई एक देवियां पुष्प-रज से आच्छादित राज-प्रांगण की सफाई में लगी थीं और चन्दन-जल का छिड़काव करती थीं।

उक्त देवियोंने रत्नोंके चूर्णसे स्वस्तिक आदि की रचना की और महल को कल्पवृक्ष के पुष्पों से सजाया। किसी ने महलों के उच्च श्रृंगोंपर रत्नों के दीप जलाये, जो अन्धकार को नष्ट करनेवाले थे। वस्त्र पहनाना, आसन बिछाना आदि समस्त कार्य देवियां ही करती थीं। माता की वन-क्रीड़ा के समय मिष्ट गीत, प्रिय नृत्य और धार्मिक कथायें कह-कह कर वे माता को सुख पहुंचाया करती थीं। इस प्रकार जिन-माताकी सेवा देवियों द्वारा होती रही और उनकी शोभा अनुपम थी।

जब नवम मास निकट आया तो गर्भवती माता की बुद्धि अति प्रखर होती गई। उन्हें प्रसन्न रखने के उद्देश्य से देवियां तरह-तरह के प्रहसन किया करतीं और मनोहर कवितायें सुनाया करती थीं। देवियां कुछ गूढ़ अर्थपूर्ण पहेलियां माता से पूछा करती थीं और माता उनका समुचित उत्तर दे दिया करती थीं। उदाहरण के रूप में निम्न पहेली और उसका उत्तर मनन करने योग्य है—

विरक्ता नित्य कामिन्या कामुकोऽकामुको महान्,
सस्पृहो निःस्पृहो लोके परात्मान्यश्च यः स कः ॥ १ ॥

अर्थात् जो वैरागी होने पर भी सर्वदा कामिनी की इच्छा रखता है और निस्पृही होने पर भी इच्छा किया करता है, वह विलक्षण पुरुष इस संसारमें कौन है? यह तो हुई पहेली। माता ने पहेली का उत्तर श्लोक में ही दिया। माता का उत्तर था—'परमात्मा'। कारण, 'परमात्मा' का एक अर्थ तो विलक्षण पुरुष होता है और दूसरा अर्थ परमात्मा भी होता है। परमात्मा नित्य-कामिनी अर्थात् अविनाशी मोक्षरूपी स्त्री में अनुरागी है और उसी की इच्छा रखने वाला होता है। दूसरी एक पहेली और सुनिये—

दृश्योऽदृश्योऽस्त्रितचिद्भूषः प्रकृत्या निर्मलोऽव्ययः।
हन्ता देह विधेर्देवो नाऽय क वर्ततेऽद्य सः ॥ २ ॥

अर्थात् जो अदृश्य है, फिर भी देखने योग्य है; स्वभाव से निर्मल होने पर भी देह की

रचना का नाशक है, पर महादेव नहीं है; ऐसा वह कौन है? इस श्लोक का माता ने 'देवोना' शब्द से उत्तर दिया। 'देवोना' का अर्थ है देवरूपी मनुष्य श्री अर्हन्त देव ।

इस प्रकार उन देवियों ने प्रश्नोत्तर के रूप में माता से अनेक पहेलियां पूछीं। वे भिन्न प्रकार की हैं—हे सुन्दरी! असंख्यात मनुष्य और देवों द्वारा पूज्य तीनों जगत का गुरु तेरा पुत्र अनेक उत्तम गुणों से युक्त तथा विजयी हो। (इस श्लोक में ओंठ से बोलनेवाला अक्षर एक भी नहीं है, अतः यह 'नीरोष्ठज' है।) जिसने दूसरी स्त्रियोंसे प्रेम करना छोड़ दिया है, पर फिर भी अविनाशी मोक्ष-सुखमें अनुरागी है, ऐसा गुणों का समुद्र तेरा पुत्र हमारी रक्षा करे। (इस श्लोकमें भी 'नीरोष्ठज' अक्षर हैं।) हे जगत् का कल्याण करने वाली, तीन लोकके स्वामीको गर्भमें धारण करनेवाली, हरिहरादि के मन की रक्षा कर। (इस श्लोक में 'अब' क्रिया छिपी हुई होने से 'क्रियागुप्त' है।)

जगत् के कल्याण के लिये अपने गर्भमें तीर्थंकर को धारण करनेवाली हे माता! धर्म-तीर्थ स्थापित करने वाले की उत्पत्ति में देव, विद्याधर, भूमिगोचरी जीवों का तीर्थ-स्थान बन। (इसमें 'अष्ट्र' क्रिया गुप्त है) हे देवी महारानी! इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला कौन है? माता का उत्तर—जो धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक है, वे ही श्री अर्हन्त देव तीन जगत् के कल्याण करनेवाले हैं। देवियों का प्रश्न—गुरुओं में सबसे महान कौन है? उत्तर—जो तीन जगत् का गुरु और सब अतिशयों से तथा दिव्य अनन्त गुणों से विराजमान हैं ऐसे श्री जिनेन्द्र देव ही महान गुरु हैं।

प्रश्न—इस जगत् में किसके वचन श्रेष्ठ और प्रामाणिक हैं। उत्तर—जो सबका जाननेवाला, दुनियाका हित करनेवाला, अठारह दोष-रहित और वीतरागी है, ऐसे श्री अर्हन्त भगवान के वचन ही श्रेष्ठ और मानने योग्य हैं। उनके सिवा दूसरे मिथ्या-मतियों के नहीं। प्रश्न—जन्म-मरणरूपी विषको दूर करनेवाला अमृत के समान क्या पान करना चाहिये? उत्तर—जिनेन्द्र के मुख-कमल से निकला हुआ 'ज्ञानामृत' पीना चाहिए। दूसरे

मिथ्या ज्ञानियों के विपरूप वचन नहीं मानने चाहिए। प्रश्न—इस लोक में बुद्धिमानों को किसका ध्यान करना चाहिए? उत्तर—पंच परमेष्ठी का, जैन शास्त्र का, आत्म-तत्व का धर्म-शुक्लरूपी ध्यान करना चाहिए, दूसरा आर्द्र-रौद्र रूप खोटा ध्यान कभी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—शीघ्र कौन-सा काम करना चाहिए? उत्तर—जिससे संसार के भोगों का नाश हो, ऐसे अनन्त ज्ञान-चारित्रका पालन करना चाहिए, मिथ्यात्वादिकों का नहीं। प्रश्न—इस संसार में सज्जनों के साथ में जाने वाला कौन है? उत्तर—दयामय धर्म ही सहायता करनेवाला बन्धु है, जो सब दुःखों से रक्षा करनेवाला है। इसके अतिरिक्त और कोई सहगामी नहीं है। प्रश्न—धमके क्या-क्या लक्षण हैं व कार्य क्या हैं? उत्तर—बारह तप, रत्नत्रय, महाव्रत, अणुव्रत, शील और उत्तम क्षमा आदि दश लक्षणः ये सब धर्म के कार्य और लक्षण हैं।

प्रश्न—इस लोक में धर्म का फल क्या है? उत्तर—तीन लोक के स्वामियों की इन्द्र-धरणेन्द्र-चक्रवर्ती पद-रूप सम्पदायें, श्री जिनेन्द्र का अनन्त सुख; ये सब धर्म के ही उत्तम फल हैं। प्रश्न—धर्मात्माओं के चिह्न क्या हैं? उत्तर—शांत स्वभाव, अभिमानका न होना और रात-दिन शुद्ध आचरणों का पालन—ये ही धर्मात्माओं की पहचान हैं। प्रश्न—पाप के चिह्न क्या-क्या हैं? उत्तर—मिथ्यात्वादि, क्रोधादि कषाय, खोटी संगति और छः तरह के अनायतन : ये पाप के चिह्न हैं।

प्रश्न—पाप का फल क्या है? उत्तर—जो अपने को अप्रिय है, दुःख का कारण व दुर्गति करनेवाला और रोग-क्लेशादि देनेवाला है : ऐसे सभी निन्दनीय कार्य पाप के फल हैं। प्रश्न—पापी जीवों की पहचान क्या है? उत्तर—बहुत क्रोध आदि कषायों का होना, दूसरों की निन्दा, अपनी प्रशंसा और रौद्रादि खोटे ध्यान का होना : ये सब पापियोंके चिह्न हैं। प्रश्न—असली लोभी कौन है? उत्तर—बुद्धिमान, मोक्षका चाहनेवाला, भव्य जीव, निर्मल

आचरणों से तथा कठिन तपों से एक धर्म का सेवन करनेवाला ही असली लोभी है। प्रश्न—इस लोक में विचारशील कौन है? उत्तर—जो मन में निर्दोष देव-शास्त्र-गुरु का और उत्तम धर्म का विचार करता है, दूसरे का नहीं। प्रश्न--धर्मात्मा कौन है? उत्तर—जो श्रेष्ठ उत्तम क्षमा आदि दश लक्षण युक्त धर्म का पालन करता है। जिनेन्द्र देव की आज्ञा का पालन करनेवाला ही बुद्धिमान, ज्ञानी और व्रती है--वही धर्मात्मा है, दूसरा कोई नहीं। प्रश्न—परलोक जाते समय रास्ते का भोजन क्या है? उत्तर--जो दान, पूजा, उपवास, व्रत, शील संयमादि से उपार्जन किया गया निर्मल पुण्य है, वही परलोक के रास्ते का उत्तम भोजन है। प्रश्न--इस लोक में किसका जन्म सफल है? उत्तर--जिसने मोक्ष-लक्ष्मी के सुख को देनेवाला उत्तम भेद-विज्ञान पा लिया, उसी का जन्म सफल है, दूसरे का नहीं।

प्रश्न—संसार में सुखी कौन है? उत्तर--जो सब परिग्रह की उपाधियों से रहित और ध्यानरूपी अमृत का पान करनेवाला वन में रहता है अर्थात् योगी है, वही सुखी है, अन्य कोई नहीं। प्रश्न—इस संसार में चिन्ता किस वस्तु की करनी चाहिए? उत्तर—कर्मरूपी शत्रुओं के नाश करने की और मोक्ष-लक्ष्मी पाने की चिन्ता करनी चाहिए, दूसरे इन्द्रियादिक विषय-सुखों की नहीं। प्रश्न--महान उद्योग किस कार्य में करना चाहिए? उत्तर—मोक्ष देनेवाले रत्नत्रय, तप, शुभ योग, सुज्ञानादिकों के पालन में महान यत्न करना चाहिए, धन एकत्रित करने मे नहीं। कारण, धन तो धर्म से प्राप्त होगा ही।

प्रश्न--मनुष्यों का परम मित्र कौन है? उत्तर—जो तप, दान, व्रतादि रूप धर्म को सप्रयास समझा कर पालन करावे और पाप कर्मों को छुड़ावे। प्रश्न--इस संसार में जीवों का शत्रु कौन है? उत्तर--जो हित करनेवाले तप, दीक्षा, व्रतादिकों को नहीं पालन करने दे, वह दुर्बुद्धि अपना और दूसरे का : दोनों का शत्रु है। प्रश्न--प्रशंसा करने योग्य क्या है? उत्तर--थोड़ा धन होने पर भी सुपात्र को दान देना, निर्बल शरीर होने पर भी निष्पाप तप करना, यही प्रशंसनीय है। प्रश्न--माता! तुम्हारे समान महारानी कौन है? उत्तर--जो

धर्म के प्रवर्तक, जगत के गुरु ऐसे तीर्थंकर देवाधिदेव को उत्पन्न करे वही मेरे समान है, दूसरी कोई नहीं। प्रश्न—पण्डिताई क्या है? उत्तर—शास्त्रों को जान कर खोटा आचरण, खोटा अभिमान जरा भी नहीं करना और दूसरी भी पापकी क्रियायें नहीं करनी, यही पण्डिताई है। प्रश्न—मूर्खता किसे कहते हैं? उत्तर—ज्ञान के हित का कारण निर्दोष तप, धर्म की क्रिया को जान कर आचरण नहीं करना। प्रश्न—बड़े भारी चोर कौन हैं? उत्तर—जो मनुष्यों के धर्मरत्न को चुरानेवाले, पाप के कर्ता और अनर्थ करनेवाले हैं, वे ऐसे पांच इन्द्रियरूपी चोर हैं।

प्रश्न—इस संसार में शूर-वीर कौन हैं? उत्तर—जो धैर्यरूपी तलवार से परीषहरूपी महायोद्धाओं को, कषायरूपी शत्रुओं को तथा काम-मोह आदि शत्रुओं को जीतनेवाले हों। प्रश्न—देव कौन हैं? उत्तर—जो सबका जाननेवाला, क्षुधादि अठारह दोषों से रहित, अनन्त गुणों का समुद्र, धर्म का प्रवर्तक हो, ऐसे अर्हन्त प्रभु ही देव है। प्र० महान गुरु कौन हैं? उत्तर—जो इस संसार में वाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहोंसे रहित हों। जगत के भव्य जीवों के हित-साधन में उद्यमी हो और स्वयं भी मोक्ष का इच्छुक हो, वही महान गुरु है। दूसरा मिथ्या-मती धर्मगुरु नहीं हो सकता।

इस प्रकार देवियों द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर जिन-माता ने गर्भस्थ तीर्थंकर के प्रभाव से दिया। प्रथम तो महारानी की बुद्धि स्वभाव से ही निर्मल थी। पुनः अपने उदर में तीन ज्ञान के धारक प्रकाशमान तीर्थंकर देव को धारण करने से वे और भी स्वच्छ हो गई थीं। रानीके गर्भमें स्थित तीर्थंकर बालक को कोई कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि सीप में रहनेवाली जल-बिन्दु में भी विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है। उस देवीके उदर की त्रिबली भी भंग नहीं हुई। उदर पूर्व जैसा ही रहा, पर गर्भ की क्रमशः वृद्धि होती गई। यह सब प्रभु का ही प्रभाव था।

गर्भ में स्थित प्रभु के प्रभाव से महारानी की मुखाकृति बड़ी ही शोभायमान हो गई।

उन्हें देख कर ऐसा प्रतीत होता था कि वे असंख्य रत्नोंको धारण करनेवाली पृथ्वी ही हों। अप्सराओं के साथ इन्द्रके द्वारा भेजी हुई इन्द्राणी ही जिनकी सेवा कर रहीं हों, उनकी कान्ति और उनके मुखका वर्णन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार लगातार नौ महीने तक महान उत्सव सम्पन्न होते रहे। देखते-देखते नवमा महीना पूर्ण हो गया। शुभ चैत्र मास की शुक्ला त्रयोदशी के दिन यमणि नाम योग में, शुभ लग्न में त्रिशला महादेवी ने अलौकिक पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र अपने उज्ज्वल शरीर की कान्ति से अन्धकार को विनष्ट करने वाला, जगत का हित करनेवाला मति, श्रुति, अवधि-तीनों ज्ञान को धारण करनेवाला, महा दैदीप्यमान और धर्म-तीर्थ-प्रवर्तक तीर्थंकर हुआ।

उनके जन्मके साथ-साथ सभी दिशायें निर्मल हो गयीं। आकाश में निर्मल वायु बहने लगी। स्वर्ग से कल्प-वृक्षों के पुष्पों की वर्षा हुई और चारों जातियों के देवों के आसन कम्पायमान हो गये। स्वर्गमें बिना बजाये ही बाजों की ध्वनि होने लगी, मानो वे भी भगवान् का जन्मोत्सव मना रहे हों। इसके अतिरिक्त अन्य तीनों जातियों के देवों के महलों में शंख-भेरी आदि के शब्द होने लगे।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भगवान के जन्म का समाचार पा कर उनका जन्म-कल्याणक मनाने का विचार करने लगा। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से देवों की सेनाएँ 'जय-जयकार' करती हुई स्वर्ग से उठीं। उनकी विशाल सेनायें समुद्र से उठती हुई प्रचण्ड लहरों के समान प्रतीत होती थीं। हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नर्तकी, पैदल, बैल आदि से युक्त सात प्रकार की देवोंकी सेनायें निकलीं। पश्चात् सौधर्म स्वर्ग का स्वामी इन्द्र इन्द्राणी सहित ऐरावत पर सवार हो कर चला। उसके चारों ओर देवोंकी सेनायें घिरी हुई थीं।

इन्द्र के पीछे-पीछे बड़ी विभूतियों के साथ सामानिक देव चल रहे थे। उस समय दुन्दुभी आदि बाजों की ध्वनि और देवों की 'जय-जयकार' से सारा आकाश गूंजने लगा। रास्ते में कितने ही देव गाते हुए चल रहे थे। कोई नृत्य करता जाता था और कोई प्रसन्नता

के मारे दौड़ रहा था। उनके छत्र, चमर और ध्वजाओं से सारा आकाश-मण्डल आच्छादित हो गया था। वे चारों निकायों के देव बड़ी विभूति के साथ क्रम-क्रम से कुण्डलपुर पहुंचे। उस समय ऊपर का और मध्य का भाग देव-देवियों से घिर गया था। राजमहल का आंगन इन्द्रादिक देवों से बिलकुल भर गया था।

इन्द्राणी ने तत्काल प्रसूति-गृह में जाकर दिव्य शरीर धारी कुमार और जिन-माता के दर्शन किये। वे बार-बार उन्हें प्रणाम कर जिन-माता के आगे खड़ी होकर उनके गुणोंकी प्रशंसा करने लगीं। इन्द्राणी ने कहा—देवी ! तुम तीनों जगत के स्वामी को उत्पन्न करने के कारण समग्र विश्व की माता हो और तुम्हीं महादेवी भी हो। महान देव उत्पन्न कर तुमने अपना नाम सार्थक कर लिया है। संसार में तुम्हारी तरह और कोई दूसरी स्त्री नहीं है।

इस प्रकार माता की स्तुति कर इन्द्राणी ने उन्हें निद्रित करा दिया। जब जिन-माता सो गयीं, तो इन्द्राणी ने उनके आगे एक मायामय बालक बना कर सुला दिया और जिन भगवान को स्वयं अपने हाथों से उठा कर उनके शरीर का स्पर्श किया। वे बार-बार उनके मुख का चुम्बन करने लगीं। भगवान के शरीर से निकलती हुई उज्ज्वल ज्योति को देख कर उनके हर्ष का पारावार न रहा। पश्चात् उस बालक भगवान को ले कर वे आकाश-मार्ग की ओर चलीं। भगवान आकाश में ठीक सूर्य की तरह जान पड़ते थे। समस्त दिक्कुमारियां छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, स्वस्तिक आदि आठ मांगलिक पदार्थों को ले कर इन्द्राणी के आगे-आगे चलीं।

उस समय इन्द्राणी ने जगत को आनन्द प्रदान करनेवाले जिनदेव को लाकर बड़ी प्रसन्नता से इन्द्र को दिया। भगवान की अपूर्व सुन्दरता, उनकी तेजोमय दीप्ति देखकर देवों का स्वामी इन्द्र उनकी स्तुति करने लगा—हे देव, तुम हमें परम आनन्द प्रदान करने के लिये बाल-चन्द्रमा की भांति लोक को प्रकाश देने के लिये प्रकट हुए हो। हे ज्ञानी तुम विश्व

के स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती के भी स्वामी हो। धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक होने के कारण तुम्हीं ब्रह्मा भी हो।

देव ! योगीराज तुम्हें ज्ञानरूपी सूर्य का उदयाचल मानते हैं। तुम भव्य पुरुषों के रक्षक और मोक्षरूपी स्त्री के पति हो। तुम मिथ्या-ज्ञानरूपी अन्धकूपमें पड़े हुए अनेक भव्य जीवों को धर्मरूपी हाथ का सहारा देकर उद्धार करनेवाले हो। संसार के सभी विचार-शील व्यक्ति तुम्हारी अलौकिक वाणी सुन कर अपने कर्मों को नष्ट कर परम पवित्र मोक्ष प्राप्त करेंगे और भव्य जीवों को स्वर्ग की प्राप्ति होगी। आज आप के अभ्युदय से सन्त पुरुषों को बड़ी प्रसन्नता हुई है। वस्तुतः आप ही धर्म की प्रवृत्ति के कारण हैं।

अतएव हे देव ! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं, भक्ति प्रकट करते हैं और प्रसन्नता पूर्वक तुम्हारी आज्ञा का ही पालन करते हैं—दूसरे मिथ्थात्वी देव की नहीं। इस तरह देवों का स्वामी सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भगवान की स्तुति कर उन्हें गोद में उठा कर सुमेरु पर्वत पर चलने को उद्यत हुआ। उसने अन्य देवों को भी सुमेरु पर्वत पर चलने के लिये आज्ञा दी। उस समय सभी देवों ने 'प्रभु की जय हो, आनन्द की वृद्धि हो' आदि शब्दों से 'जय-जयकार' की। उनकी ध्वनि समस्त दिशाओं में फैली।

इन्द्र के साथ-साथ और देव भी 'जय-जय' शब्द करते हुए आनन्द मनाने लगे। प्रसन्नतावश उनका शरीर रोमांचित हो गया। आकाश में प्रभु के समक्ष अप्सरायें नृत्य करने लगीं। गन्धर्व देव भी वीणा आदि वाद्यों के साथ गान करने लगे। देवों की दुन्दुभी के शब्दों से सारा आकाश-मण्डल गूंज उठा। किन्नरियां हर्षित हो अपने किन्नरों के साथ जिनदेव का गुणगान करने लगीं। उस समय सब देव भगवान का दर्शन कर अपने जीवन को सार्थक समझने लगे। वे बड़ी देर तक भगवान का दिव्य रूप देखते रहे। इंद्र की गोद में विराजमान भगवान को ऐशान स्वर्ग के इंद्र ने दिव्य छत्र लगाया। सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र भी चमर डुलाते हुए भगवान की सेवा करने लगे। जिनेन्द्र भगवान की ऐसी

विभूति देख कर अनेक देवो ने उसी समय सम्यक्त्व धारण किया। उन्होंने इन्द्र के वचनों को प्रमाण माना। वे इन्द्रादि ज्योति-चक्र को लांघ कर अपने शरीर के आभूषणों की किरणों से आकाश को प्रकाशित करते हुए चले जा रहे थे।

परस्पर अनेक प्रकार के उत्सव मनाते हुए वे देव बड़ी विभूति के साथ ऊँचे सुमेरु पर्वत पर जा पहुंचे। उस सुमेरु पर्वत की ऊँचाई एक हजार कम, एक लाख योजन की है। पर्वत के आरम्भमें ही भद्रशाल वन है। उस वन में परकोट और ध्वजाओं से सुशोभित कल्याण-कारक चार जैन-मन्दिर सुशोभित हैं। उस वन से साढ़े बासठ हजार योजन की ऊँचाई पर महारमणीक 'सौमनस' वन है, जहां पर सभी ऋतुओं में फल देनेवाले एक सौ आठ वृक्ष हैं और जिन चैत्यालयों की संख्या चार है।

उस सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन की ऊँचाई पर अंतिम 'पाण्डुक वन' है। वहां ऊँचे-ऊँचे जिन चैत्यालयों के समूह थे। उस वन की सुंदरता अपूर्व थी। वन के बीच में एक चूलिका है। वह चालीस योजन ऊँचे है। उसी चूलिका के ऊपर स्वर्ग है। मेरु की ईशान दिशा में सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी, आठ योजन ऊँची 'पाण्डुक' नाम की एक शिला है। वह सिद्ध शिला चंद्रमा के समान सुशोभित है। छत्र, चमर, स्वस्तिक, दर्पण, कलश, ध्वजा, ठोना, पंखा—ये अष्ट मंगल द्रव्य उस शिला पर रखे हुए थे।

शिला के मध्य भाग में वैडूर्य मणि के सदृश रंगीन एक सिंहासन है। उसकी लम्बाई, उँचाई और चौड़ाई आधा योजन प्रमाण है। जिन भगवान के स्नान जल से पवित्र हुए रत्नों के तेज से वह सिंहासन ऐसा प्रतीत होता था मानो सुमेरु की दूसरी चोटी ही हो। उसके ठीक दक्षिण की ओर सौधर्म का सिंहासन है और उत्तर दिशा की ओर अन्य इंद्रों के बैठने का स्थान है। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने, देवोंके साथ महोत्सव सम्पन्न करते हुए, स्नान कराने के उद्देश्य से भगवान को उसी शिला पर विराजमान किया। देवराज ने प्रथम पर्वतराज की परिक्रमा की।

इस प्रकार देवेन्द्र ने पुण्योदय से बड़ी विभूति के साथ अन्तिम तीर्थंकर को शिला पर विराजमान किया। अतः भव्य जन यदि ऐसी सम्पदा और सुख की आकांक्षा रखते हैं, तो उन्हें सोलह कारण भावनाओं से निर्मल पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। 'तीर्थंकर' आदि सम्पदा प्राप्त कराने में पुण्य ही सहायक होता है। पुण्य से इस जगत में पवित्रता की वृद्धि होती है। पुण्य के अतिरिक्त इस जगत में दूसरी कोई वस्तु सुख प्रदान करनेवाली नहीं है। इस पुण्य का मूल कारण है व्रत। प्राणियों को पुण्य के बल से ही अनेक गुणों की प्राप्ति हुआ करती है।

नवम प्रकरण

दृश्य देख अभिषेक का, हर्षित देव समाज ;
विविध भांति उत्सव करें, सजि के अनुपम साज।

जिनेन्द्र भगवान के महान उत्सव को देखने की इच्छा रखनेवाले धार्मिक देव उस पर्वतराज को घेर कर बैठ गये। दिक्पाल देव अपनी-अपनी मण्डली को साथ लेकर अपनी दिशा की ओर बैठे। उस स्थान पर देवों ने एक ऐसे मण्डप का निर्माण किया था, जिसमें सभी देव सुखपूर्वक बैठ सकते थे। मण्डप में यत्र-तत्र कल्पवृक्ष की मालायें लटक रही थीं। उन मालाओं पर बैठे हुए भौरें इस प्रकार गूंज रहे थे, मानो वे प्रभु का गुण-गान ही कर रहे हों।

गन्धर्व देव और किन्नरियों ने जिनदेव के कल्याणक-गुणों का बड़े ही सुमधुर स्वरों में गान आरम्भ किया। दूसरी देवियां हाव-भावपूर्वक नृत्य करने लगीं। देवों के तरह-तरह के बाजे बजने आरम्भ हो गये। कुछ देव पुण्यादि की इच्छा से पुष्पों की वर्षा करने लगे। इसके पश्चात् इन्द्र ने अभिषेक कराने के लिये प्रस्ताव कर कलशोंकी रचना की। कलश-निर्माण-मन्त्र जाननेवाले सौधर्म इन्द्र ने मोतियों की माला और चन्दन से युक्त कलश को हाथों में लिया और सब कल्पवासी देव 'जय-जय' शब्द करते हुए कल्याणक सम्बन्धी कार्य

करने लगे। इन्द्राणी देवियाँ भी कार्य करने में संलग्न हो गई। उनके हर्ष का पारावार नहीं था। 'स्वयम्भू' भगवान का शरीर स्वभाव से ही पवित्र है। उनके रक्त का रंग दूध के सदृश श्वेत है। अतएव उनके लिए क्षीर-समुद्र के जल के अतिरिक्त और कोई जल स्पर्श करना उचित नहीं, ऐसा सोच कर वे देवगण पर्वत से लेकर समुद्र तक कतारे बांध कर खड़े हो गये। उस समय इन्द्र ने जिनेन्द्र को स्नान कराने के लिये मोतियों के हार से सुशोभित आठ योजन गहरा और एक योजन मुखवाले सुवर्णमय कलश को पकड़ने के उद्देश्य से, दिव्य आभूषणों से युक्त अपनी हजार भुजायें बना लीं। उस समय इन्द्र की शोभा देखने ही लायक थी। एक सहस्र हाथों से एक हजार कलशों को पकड़े हुए इन्द्र ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह 'भाजनांग' जाति का कल्पवृक्ष ही हो। सौधर्म इन्द्र ने 'जय-जय' शब्द का गम्भीर उच्चारण करते हुए भगवान के मस्तक पर पहली जल-धारा छोड़ी। अन्य देव भी उस समय 'जय हो, हमारी रक्षा करो,' आदि जयघोष करने लगे। उनके गम्भीर शब्दों से पर्वत राज पर बड़ा कोलाहल मचा। दूसरे देवेन्द्र भी सौधर्म के साथ भगवान के मस्तक पर गङ्गा की तीव्र धारा के सदृश जल-धारा छोड़ने लगे।

वह जल-धारा बड़ी तीव्र गति से भगवान के मस्तक पर पड़ने लगी। वह धारा यदि किसी पहाड़ पर भी पड़ती, तो उसके खण्ड-खण्ड हो जाते; पर अतुलित बलशाली होने के कारण भगवान के शरीर पर वह धारा पुष्प जैसी कोमल प्रतीत होने लगी। जल के छींटे आकाश में बहुत ऊँचे उछलते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो वे भगवान के शरीर का स्पर्श करने के कारण पापों से मुक्त हो कर उर्ध्व-गति को जा रहे हों। स्नान-जल के छींटे मोतियों जैसे लग रहे थे। स्नान-जल का तीव्र प्रवाह उस पर्वतराज के वनों में ऐसे वेग से बढ़ा कि दर्शकों को प्रतीत होने लगा कि वह पर्वतराज को खण्ड-खण्ड कर देगा।

भगवान के स्नान किये हुए जल से डूबी हुई वनस्थली ऐसी दीखने लगी, मानो वह दूसरा क्षीर-समुद्र ही हो। महान उत्सवों से सम्पन्न, नृत्य गीतादि से युक्त उस समय की

छटा देख कर देवों के आनन्द की सीमा न रही। इन्द्र ने आत्म-शुद्धि के लिये भगवान को शुद्ध स्नान कराया।

स्नान की जल-धारा भगवान के शरीर का स्पर्श कर अत्यन्त पवित्र हो गई। पुण्य प्राप्त करानेवाली और संसार की इच्छा-पूर्ति करनेवाली वह जल-धारा हमें और भव्य जीवों को मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करे। जो जल-धारा पुण्यास्रव जल-धारा के समान मनोवांछित पदार्थों को प्रदान करनेवाली है, वह समस्त भव्य-जीवों को इच्छित वस्तुयें प्रदान करे।

वह जल-धारा सत्पुरुषों के विघ्नों का तीक्ष्ण तलवार के सदृश नाश कर देती है। वह दुःख और असह्य वेदना का नाश करनेवाली है। जो जल-धारा भगवान के शरीर से लग कर पवित्र हो चुकी है, वह हमारे दुःख-कर्म रूपी मैल को हटा कर हमें पवित्र करे। इस प्रकार देवों के स्वामी ने भगवान का अभिषेक कर के 'भव्यों को शान्ति प्राप्त हो', ऐसा कहा। उस सुगन्धित जल (गन्धोदक) को देवों ने अपनी शुद्धि के लिये अपने मस्तक में लगाया।

अभिषेक का उत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् महावीर इन्द्र और देवताओं द्वारा पूजे गये। उन तीर्थङ्कर भगवान की दिव्य गन्ध, मोतियों के अक्षत, कल्पवृक्ष के पिण्डरूपी नैवेद्य, रत्नों के द्वीप, अष्टांग धूप, कल्पवृक्ष के फल, अर्घ पुष्पाञ्जलि आदि के साथ पूजा की गई। इस प्रकार इन्द्र ने बड़ी भक्ति के साथ भगवान की प्रार्थना करते हुए अभिषेक उत्सव सम्पन्न किया। पुनः इन्द्र ने इन्द्राणी और अन्य देवों के साथ भगवान को नमस्कार किया।

उस समय का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही मनोरम था। आकाश से सुगन्धित जल के साथ पुष्पों की वर्षा होने लगी। देवों ने मन्द सुगन्ध और ठण्डी वायु चलाई। वस्तुतः जिस प्रभु के जन्माभिषेक का सिंहासन सुमेरु पर्वत है, स्नान करानेवाला इन्द्र है, मेघ के समान दूध से भरे हुए कलश हैं, सब देवियाँ नृत्य करनेवाली हैं, स्नान के लिये क्षीर-समुद्र का जल है और सेवक देव हैं, भला ऐसे जन्माभिषेक की महिमा का वर्णन कोई कैसे कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं कर सकता।

अभिषेक किये हुए भगवान के सर्वाङ्ग को इन्द्राणी ने उज्ज्वल वस्त्र से पोंछा। इसके बाद उन्होंने भक्तिपूर्वक सुगन्धित द्रव्यों से उनका लेपन किया। यद्यपि वे प्रभु तीनों जगत् के तिलक थे, फिर भी भक्तिवश उन्होंने उनके मस्तक पर तिलक लगाया। जगत् के चूड़ामणि भगवान के मस्तक में चूड़ामणि रत्न बांधा गया। यद्यपि भगवान के मस्तक के नेत्र स्वभाव से ही काले थे, फिर भी लोक व्यवहार के लिये उनके नेत्रों में इन्द्राणी ने अञ्जन लगाया।

भगवान के कानों में इन्द्राणी ने रत्नों के कुंडल पहनाये। प्रभु के कण्ठ में रत्नों का हार, बांहों में बाजूबन्द, हाथों के पहुंचों में कड़े और अँगुलियों में अंगूठी पहनाई। कमर में छोटी घंटियोंवाली मणियों की करधनी पहनाई, जिसके तेज से सारी दिशायें व्याप्त हो गयीं। प्रभु के पैरों में मणिमय गोमुखी कड़े पहनाये गये। इस प्रकार असाधारण दिव्य मण्डनों (गहनों) से, कान्ति एवं स्वाभाविक गुणों से, वे प्रभु ऐसे प्रतीत होने लगे, मानो साक्षात् लक्ष्मी के पुञ्ज ही हों।

भगवान का दिव्य शरीर आभूषणों से और भी शोभायमान हो गया। आभूषणों से सजे हुए इन्द्र की गोद में विराजमान महावीर प्रभु को देख कर इन्द्राणी को बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्द्र को भी कम आश्चर्य नहीं हुआ। एक नेत्र से देखने से जब इन्द्र की तृप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने अपने हजार नेत्र कर लिये। अन्य देव-देवियाँ भी भगवान की रूप-सुधा का पान कर अत्यन्त हर्षित हुईं।

पश्चात् सौधर्म स्वर्ग के इन्द्रप्रभु की स्तुति करने के लिये प्रस्तुत हुए। वे तीर्थङ्कर के पुण्योदय से उत्पन्न उनके गुणों की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने कहा—देव! बिना स्नान के ही आप का सर्वाङ्ग पवित्र है, पर मैंने अपने पापों की शान्ति के लिये आज भक्तिपूर्वक आप को स्नान कराया है। आप तीनों जगत के आभूषण हैं, पर मैंने अपने सुखों की प्राप्ति के लिये आप को आभूषणों से विभूषित किया है। प्रभो! तुम्हारी महान सत्ता आज सारे

संसार पर अपना प्रभाव विस्तार कर रही है।

देव! कल्याण की कामना रखनेवाले लोगों का कल्याण तुम्हारे द्वारा ही होगा। तुम मोह के गह्वर में गिरे हुए व्यक्तियों के लिये सहारा हो। तुम्हारी अमृतमयी वाणी मोह-शत्रु का विनाश करेगी। तुम धर्म-तीर्थरूपी जलपोत के द्वारा भव्य जीवों को संसार-समुद्र से पार उतारोगे। नाथ, आप की वचनरूपी किरणें जीवों के मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकार का सर्वथा विनाश करेंगी, इसमें संदेह नहीं। स्वामिन्! आप केवल मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से ही नहीं उत्पन्न हुए हैं, आप का उद्देश्य मोक्ष की आकांक्षा रखनेवाले जीवों को मार्ग दिख-लाना भी है। आप सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की वर्षा करते हुए सत्पुरुषों को निर्मल बनायेंगे। आप का जन्म-धारण सर्वथा स्तुत्य है।

महाभाग! मोक्षरूपी स्त्री आप में आसक्त हो रही है। भव्य जीव तो आप की प्रतीक्षा करते ही हैं। वे बड़े प्रेम और भक्ति के साथ आप की चरण-सेवा के लिए सन्नद्ध हैं। वे आप को मोहरूपी महायुद्ध के विजेता, शरण में आये हुए के रक्षक, कर्मरूपी शत्रुओं के विना-शक और मोक्ष-मार्ग प्रशस्त करनेवाले मानते हैं। प्रभो, वस्तुतः आज हम आप का जन्माभिषेक कर अत्यन्त कृतार्थ हो गये और आप का गुणानुवाद करने से हमारा मन अत्यन्त निर्मल हो गया है।

हे गुणों के अपार सागर! आप की स्तुति करने से हमारा जन्म सफल हो गया; आप की देह-सेवा से हमारा शरीर धारण भी सफल हुआ। जिस प्रकार खान से निकलनेवाले रत्न का संशोधन करने पर उसमें अधिक चमक आ जाती है, ठीक उसी प्रकार आप स्नान आदि कर और भी सुशोभित हो रहे हैं। नाथ! आप संसार के नाथ हैं और आप बिना किसी स्वार्थ के ही लोक-हित-चिन्तक हैं। परमानन्द प्रदान करनेवाले विभो! आप को शतशः नमस्कार है। तीनों ज्ञानरूपी नेत्रों के धारक आप को बारम्बार नमस्कार है।

धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक भगवान! उत्तम गुणों के सागर और मल-स्वेद आदि से रहित

शरीर धारण करनेवाले आप को नमस्कार है। हे देव! निर्वाण का मार्ग दिखलानेवाले, कर्मरूपी शत्रुओं के प्रहारक, पंचेन्द्रियों के मोह को परास्त करनेवाले, पञ्चकल्याणकों के भागी, स्वभाव से निर्मल, स्वर्ग मोक्ष प्रदान करनेवाले, अत्यन्त महिमा से मंडित, बिना कारण समस्त संसारी जीवों के हित करनेवाले, मोक्षरूपी भार्या के पति, संसार का अन्धकार नष्ट करनेवाले, तीनों जगत् के पति और सत्पुरुषों के गुरु, आप को करबद्ध प्रणाम है।

देव, मैं आप की स्तुति इसलिये नहीं करता कि मुझे तीनों जगत् की सम्पदा प्राप्त हो, बल्कि मुझे ऐसी सम्पदा प्रदान करो, जिससे मोक्ष का मार्ग सुलभ हो। वस्तुतः इस संसार में आप के सदृश दूसरा कोई दाता नहीं है। इस प्रकार महावीर स्वामी की स्तुति कर सौधर्म के इन्द्र ने व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये उनके दो नाम रख दिये। कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त करने के कारण 'महावीर' और सद्‌गुणों की वृद्धि होने से 'वर्द्धमान' नाम रखे। इस प्रकार भगवान का नामकरण कर इन्द्र ने देवों के साथ उनको ऐरावत हाथी पर बिठा कुण्डलपुर की ओर प्रस्थान किया। देवों की सारी मंडली बड़े उत्सव के साथ कुंडलपुर में पहुंची। उस समय सारा नगर देव-देवियों से भर गया था। पश्चात् इंद्र ने थोड़े से देवों को साथ ले कर राजभवन में प्रवेश किया। उस अत्यन्त रमणीक गृह के आँगन में रत्नों के सिंहासन पर शिशु-भगवान को विराजमान किया। अपने बन्धु-बान्धवों के साथ महाराज सिद्धार्थ अनुपम गुण-कान्तियुक्त पुत्र को देखने लगे।

इन्द्राणी ने जाकर मायामयी निद्रा में लीन महारानी को जगाया। उन्होंने बड़े प्रेम से आभूषणों से युक्त अपूर्व कान्तिवाले पुत्र को देखा। इन्द्राणी सहित इन्द्र को देख कर जगतपिता की माता को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने समझ लिया कि आज हमारा मनोरथ सिद्ध हो गया। इसके पश्चात् ही सब देवों ने मिल कर माता-पिता को वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर उनकी विधिवत पूजा की। इंद्र ने बड़ी श्रद्धा के साथ माता-पिता की स्तुति की। उन्होंने कहा—तुम दोनों संसार में धन्य हो; तुम श्रेष्ठ पुण्यवान और सब में प्रधान

हो। तुम विश्व में गुणी और विश्व के माता-पिता हो।

तीन जगत के पिता को उत्पन्न करने के कारण आज तुम्हारी मान्यता सारे संसार में है। तुम्हारी कीर्ति अक्षुण्य है, कारण सब के उपकार और कल्याण के दोनों भागी हो। आज से तुम्हारा गृह चैत्यालय के सदृश हो गया और गुरु के सम्बन्ध से तुम हमारे पूज्य और मान्य गुरु हो। इस प्रकार इन्द्र ने माता-पिता की स्तुति कर और भगवान को उन्हें सौंप कर सुमेरु की उत्तम कथा सुनाई। वे दोनों ही जन्माभिषेक की बातें सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए; उनके आनन्द की सीमा न रही।

इन्द्र की सम्मति से उन दोनों माता-पिता ने बन्धु वर्ग के साथ भगवान का जन्मोत्सव सम्पन्न किया। सर्वप्रथम श्री जैन मन्दिर में भगवान की अष्ट द्रव्यों से पूजा की गई। इसके पश्चात् ही बन्धुओं और दास-दासियों को अनेक प्रकार के दान दिये गये तथा बंदी और दीन अनाथों को योग्यता के अनुसार दान दे उन्हें संतुष्ट किया गया। नगर को तोरण और मालाओं से खूब सजाया गया। बाजे और शङ्ख की गम्भीर ध्वनि होने लगी। ऐसे ही नृत्य-गीतादि अनेक प्रकार के उत्सवों से वह नगर स्वर्ग जैसा प्रतीत होने लगा।

इस उत्सव से नगर की प्रजा और कुटुम्बीजनों को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। पुरवासी और नगर-निवासी जनों को प्रसन्नता प्रकट करते देख कर देवेन्द्र ने भी प्रसन्नता प्रकट की। उस समय इंद्र ने गुरु की सेवा के लिये देवियों के साथ त्रिवर्ग साधक फल का दायक 'दिव्य नाटक' सम्पन्न किया। इंद्र का नृत्य आरम्भ होने पर गंधर्व देवों ने वाद्य और गान आरम्भ किये। महाराज सिद्धार्थ पुत्र को गोद में ले कर बैठे और अन्य रानियाँ उनके आस-पास बैठीं। आरम्भ में इंद्र ने जन्माभिषेक संबंधी दृश्य दिखलाया। पुनः जिनेंद्र के पूर्व जन्म के अवतारों को नाटक की तरह दिखलाता हुआ और नृत्य करता हुआ इंद्र कल्पवृक्ष-सा प्रतीत होता था। रङ्गभूमि के चारों ओर नृत्य करता हुआ इंद्र विमान की भाँति शोभायमान हुआ।

इधर इंद्र का ताण्डव नृत्य अविराम चल रहा था और उधर देवगण भक्तिवश इंद्र पर पुष्प-वृष्टि कर रहे थे। साथ ही अनेकों सुमधुर बाजे बजने आरम्भ हुए। किन्नरी देवियाँ भगवान का गुणगान करने लगीं। इंद्र अनेक रसों से मिश्रित ताण्डव नृत्य कर रहा था। हजारों भुजाओंवाले इंद्र के नृत्य से पृथ्वी चञ्चल हो उठी। इंद्र कभी एक रूप और कभी अनेक रूप, कभी स्थूल और कभी सूक्ष्म रूप धारण कर लेता था। क्षण भर में समीप, क्षण भर में दूर और क्षण भर में ही आकाश में पहुंच जाता था। इस प्रकार इंद्र का नाटक बड़ा ही मनोरञ्जक और प्रभावोत्पादक हुआ। साथ-साथ देवांगनाओं के नृत्य तो और भी आकर्षक हुए। वे बड़ी लय के साथ गाती थीं और हाव-भाव के साथ नृत्य करती थीं। उनमें से कोई तो ऐरावत हाथी के ऊपर विराजमान इंद्र की भुजाओं में से निकलती हुई और पुनः प्रवेश करती हुई कल्प-बेलि के समान प्रतीत होती थी। कुछ अप्सरायें इंद्र की हस्तांगुलि पर अपनी नाभि रख नृत्य करने लगीं। इंद्र की प्रत्येक भुजा पर नृत्य करती हुई अप्सरायें सब को प्रसन्न करने लगीं।

अप्सरायें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का नृत्य करती थीं। इस प्रकार नृत्य में सम्मिलित इंद्र पक्का जादूगर मालूम होता था। इंद्र की सारी कलायें उन नर्तकी देवियों में बँट गयीं थीं। विक्रिया ऋद्धि से नृत्य करता हुआ इंद्र भगवान के माता-पिता आदि सभी जनों को प्रसन्न करने लगा।

पश्चात् जिनेंद्र देव की सेवा के लिए देवियों को तथा असुर कुमार देवों को वहां रख कर इंद्र देवों के साथ बड़ी प्रसन्नता पूर्वक स्वर्ग में चला गया। इस प्रकार पुण्य के फलस्वरूप तीर्थङ्कर स्वामी सम्पूर्ण सम्पदाओं से पूर्ण हुए। अतएव भव्य जनों को चाहिए कि वे सर्वदा धर्म का पालन करते रहें।

दशम प्रकरण

धर्म प्रवर्तक वीर प्रभु, करता तुम्हें प्रणाम ;
करो नष्ट मेरे सभी, क्रोध, मोह, मद, काम।

जिनके द्वारा काम-क्रोधादि अन्तरङ्ग शत्रु जीत लिए गये हैं, जो तीनों जगत के हित-चिन्तक और अनन्त गुणों के समुद्र हैं, उन महावीर स्वामी के पाद-पद्मों में शतशः नमस्कार है।

पूर्व अध्याय में बताया है कि भगवान की सेवा के लिये सौधर्म स्वर्ग के इंद्र अनेक देव-देवियों को राजमहल में नियुक्त कर गये थे। उनमें से कोई धाय का काम करती, कोई वस्त्र, आभूषण आदि से उनके अङ्गों को सजाती, कोई अनेक प्रकार के खिलौने आदि के द्वारा उनका विशेष मनोरञ्जन करती थीं। जब वे देवियाँ उन्हें सम्बोधन कर बुलातीं, तो भगवान मुस्कुराते हुए उनके पास चले जाते थे। तीर्थङ्कर भगवान चन्द्रकला की भाँति बढ़ने लगे। उनकी बाल-सुलभ चपलता से माता-पिता को बड़ा ही आनन्द होता था।

जब उनकी अवस्था कुछ अधिक बढ़ी तो उनके मुख से सरस्वती की भाँति वाणी निकलने लगी। रत्नों की भूमि पर चलते हुए उनके आभूषण सूर्य की किरणों की तरह दमदमाते थे और वे स्वयं किरणों से परिवेष्टित सूर्य-से प्रतीत होते थे। उन्हें खेलने के लिये देव स्वयं हाथी, घोड़ा आदि का कृत्रिम रूप बना लिया करते थे। वे उनके साथ क्रीड़ा किया करते थे। इस प्रकार विभिन्न क्रीड़ाओं से स्वयं प्रसन्न होकर दूसरों को प्रसन्न करते हुए वे भगवान कुमार अवस्था को प्राप्त हुए। पूर्व में उनका जो क्षायिक सम्यक्त्व था, उससे उन्हें समग्र पदार्थों का ज्ञान स्वतः हो गया।

उस समय प्रभु के दिव्य शरीर में स्वाभाविक मति, श्रुति, अवधि आदि ज्ञान वृद्धि को प्राप्त हुए। उन्हें समस्त कलायें और विद्यायें स्वतः प्राप्त हो गयीं। इसलिये वे प्रभु मनुष्य तथा देवों के गुरु-स्थानीय हो गये, पर उनका कोई गुरु नहीं था। ठीक आठवें वर्ष में

भगवान ने बारह व्रतों को ग्रहण किया। प्रभु का शरीर स्वेद-रहित, प्रभावान और मल-मूत्रादि रहित स्वर्ण के सदृश था। श्वेत रुधिरयुक्त और महान सुगन्धित आठ शुभ लक्षणों से वे शोभायमान थे। आगे चल कर भगवान वज्रवृषभ-नाराच-संहनन और सम-चतुरस्र संस्थान वाले उत्तम रूपयुक्त और विशाल बलवान पुरुष हुए।

वे सबके हितकारक और कर्णमधुर शब्दों का उच्चारण करते थे। इस प्रकार जन्मकाल से ही दिव्य दश अतिशयों से युक्त शान्तता आदि अपरिमित गुण, कीर्ति, कला, विज्ञान आदि सभी से वे सुशोभित थे। उनके शरीर का वर्ण तपाये हुए सोने के वर्ण जैसा हुआ। वे दिव्य देह के धारक, धर्म की प्रतिमूर्ति के सदृश जगत के धर्मगुरु हुए।

एक दिन की घटना है—इंद्र की सभा में देवों ने भगवान की दिव्य कथा की चर्चा की। वे कहने लगे—देखो, वीर जिनेश्वर कुमार अवस्था में ही धीर, शूरों में मुख्य, अतुल पराक्रमी, दिव्य रूपधारी, अनेक गुणों से युक्त संसार-क्षेत्र में क्रीड़ा करते हुए कितने सुन्दर प्रतीत होते हैं। उसी स्थान पर संगम नाम का एक देव बैठा था। वह देवों की बातें सुन कर भगवान की परीक्षा के लिये स्वर्ग से चल पड़ा। वह महावन में आया, जहां प्रभु अनेक राजपुत्रों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। उस देव ने प्रभु को डराने के उद्देश्य से काले सर्प का रूप बनाया। वह एक वृक्ष की जड़ से लेकर स्कन्ध तक लिपट गया। उस सर्प के भय से अन्यान्य राजकुमार वृक्ष से कूद कर घबराये हुए दूर भाग गये।

पर महावीर कुमार जरा भी भयभीत नहीं हुए। वे विकराल सर्प के ऊपर आरूढ़ होकर उससे क्रीड़ा करने लगे। ऐसा मालूम हो रहा था कि वे माता की गोद में ही क्रीड़ा कर रहे हों। कुमार का धैर्य देख कर सर्परूपी देव बड़ा चकित हुआ। वह प्रकट हो कर प्रभु की स्तुति करने लगा। उसने बड़े नम्र शब्दों में कहा—देव, तुम्हीं संसार के स्वामी हो, तुम महान धीर-वीर हो, तुम कर्मरूपी शत्रु के विनाशक तथा समग्र जीवों के रक्षक हो।

वह कहने लगा—देव, आप के अतुल पराक्रम से प्रकट हुई कीर्ति स्वच्छ चाँदनी के सदृश

लोक के कण-कण में विस्तृत हो रही है। आपका नाम स्मरण करने-मात्र से ही प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाला धैर्य प्राप्त होता है। अत्यन्त दिव्य मूर्तिवाली सिद्धि-वधू के भर्ता महावीर, मैं आप को बारम्बार नमस्कार करता हूं। इस प्रकार वह देव भगवान की स्तुति कर उनका 'महावीर' नाम सार्थक करता हुआ स्वर्ग को चला गया। कुमार ने भी अपने यशगान को बड़े ध्यान से सुना। देव की स्तुति बड़ी ही कर्णप्रिय तथा भगवान के यश को संसार में विस्तृत करनेवाली थी।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी का गुणानुवाद बराबर हुआ करता था। वे भगवान किन्नरी देवियों द्वारा गाये गये अपने गुणानुवाद को बड़े ध्यानपूर्वक सुना करते थे। कभी नेत्रों को तृप्त करनेवाले इन्द्र की अप्सराओं के नृत्य और विभिन्न प्रकार के नाटक देखते थे, तो कभी स्वर्ग से प्राप्त आभूषण, वस्त्र, माला आदि अन्य को दिखा कर प्रसन्न होते थे। अन्य देव कुमारों के साथ कभी जल-क्रीड़ा और कभी अपनी इच्छा से वन-क्रीड़ा करते थे। इस प्रकार क्रीड़ा में संलग्न धर्मात्मा कुमार का समय बड़े सुख से व्यतीत होने लगा।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भी अपनी कल्याण-कामना के लिये देवियों से अनेक प्रकार के नृत्य-गीत कराने लगा। काव्य आदि की गोष्ठी और धर्म-चर्चा से समय व्यतीत करते हुए कुमार ने संसार को सुखी करनेवाली यौवनावस्था को प्राप्त किया। कुमार के मस्तक का मुकुट धर्म-रूपी पर्वत की शिखर की भाँति शोभायमान हो रहा था। उनके कपोल और मस्तक की कान्ति ऐसी मालूम पड़ती थी, मानो पूर्णिमा के चन्द्रमा की ही कान्ति हो। प्रभु की सुन्दर भौहों से शोभित कमल-नेत्रों का वर्णन भला यह तुच्छ लेखनी क्या कर सकती है, जिनके खुलने-मात्र से संसार के जीव तृप्त हो जाते हैं।

प्रभु के कान के कुण्डल बड़े ही भव्य दीखते थे। वे ऐसे शोभायमान होते थे, मानो ज्योतिष्क चक्र से घिरे हुए हों। भला, प्रभु के मुखरूपी चन्द्रमा का क्या वर्णन किया जा

सकता है, जिससे जगत का हित करनेवाली ध्वनि निकलती है? प्रभु की नासिका, ओठ, दन्त और कण्ठ की स्वाभाविक सुन्दरता जैसी थी, उसे बताने की शक्ति किसी में नहीं है। उनका विस्तृत वक्षस्थल रत्नों के हार से ऐसा सुसज्जित होता था, मानो लक्ष्मी का भवन ही हो।

अनेक प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित उनकी भुजायें ठीक कल्पवृक्ष के सदृश प्रतीत होती थीं। अंगुलियों के दशों नख अपनी किरणों से ऐसे प्रतिभाषित हो रहे थे, मानो वे धर्म के दश अङ्ग ही हों। उनकी गहरी नाभि सरस्वती और लक्ष्मी की क्रीड़ास्थली (सरोवर) जैसी प्रतीत होती थी। प्रभु के वस्त्र-पट की करधनी ऐसी मालूम होती थी, जैसे वह कामदेव को बांधने के लिये नाग-पाश ही हो।

प्रभु के दोनों जानु विस्तीर्ण और पुष्ट थे। यद्यपि वे कोमल थे, फिर भी व्युत्सर्गादि तप करने में उनकी समानता नहीं की जा सकती थी। भला, प्रभु के ऐसे चरण-कमलों की तुलना किससे की जा सकती है, जिनकी सेवा इन्द्र, धरणेन्द्र आदि सभी देव किया करते हैं। इस प्रकार शिखा से नख तक प्रभु के अङ्ग की शोभा अपूर्व थी। उसका वर्णन करना असाध्य है। मानो ब्रह्मा व कर्म ने तीन जगत में रहनेवाले दिव्य प्रकाशमान पवित्र और सुगन्धित परमाणुओं से प्रभु का अद्वितीय शरीर बनाया हो। उस शरीर का पहला गुण वज्र-वृषभ-नाराच-संहनन था।

प्रभु के शरीर में मद, खेद, दोष, रागादिक तथा वातादिक तीन दोषों से उत्पन्न रोग किसी समय भी नहीं होते थे। उनकी वाणी समस्त संसार को प्रिय थी। वह सब को सत्य और शुभ मार्ग दिखानेवाली धर्म-माता के समान थी, दूसरे खोटे मार्ग को व्यक्त करनेवाली नहीं थी। दिव्य शरीर को पा कर वे प्रभु ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसे धर्मात्माओं को पा कर धर्मादि गुण सुशोभित होते हैं। भगवान के लक्षण ये हैं—

श्रीवृक्ष, शङ्ख, पद्म, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, श्वेत छत्र, ध्वजा, सिंहासन,

दो मछलियाँ, दो घड़े, समुद्र, कछुआ, चक्र, तालाब, विमान, नाग-भवन, पुरुष-स्त्री का जोड़ा, बड़ा भारी सिंह, तोमर, गङ्गा, इन्द्र, सुमेरु, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, घोड़ा, बींजना, मृदंग, सर्प, माला, वीणा, बांसुरी, रेशमी वस्त्र, दैदीप्यमान कुण्डल, विचित्र आभूषण, फल सहित बगीचा, पके हुए अनाज वाला खेत, हीरा रत्न, बड़ा दीपक, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, सुवर्ण, कमलबेल, चूड़ारत्न, महानिधि, गाय, बैल, जामुन का वृक्ष, पक्षिराज, सिद्धार्थ वृक्ष, महल, नक्षत्र, ग्रह, प्रातिहार्य आदि दिव्य एक सौ आठ लक्षणों से तथा नौ सौ सर्वश्रेष्ठ व्यञ्जनों से, विचित्र आभूषणों से और मालाओं से विभु का स्वभाव-सुन्दर, दिव्य, औदारिक शरीर अत्यन्त सुशोभित हुआ।

विशेष वर्णन ही क्या किया जाय? संसार में जितनी भी शुभ-लक्षणरूप सम्पदा और प्रिय वचन-विवेकादि गुण हैं, वे सब पुण्य कर्मों के उदय से तीर्थङ्कर भगवान में स्वतः ही समाविष्ट थे। अधिष्ठित स्वामी सदा उनकी सेवा में रत रहते थे। वे महावीर कुमार धर्म की सिद्धि के लिये मन-वचन-काय की शुद्धि से अतिचार सहित भक्तिपूर्वक गृहस्थों के बारह व्रतों का पालन करते थे। वे सर्वदा शुभ-ध्यान की ओर विचार किया करते थे। पुण्य के शुभोदय से प्राप्त हुए सुखों का उपभोग करते हुए वे कुमार आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

विश्वपति, मन्दरागी उन महाप्रभु ने तीस वर्ष का समय क्षणभर में ही व्यतीत किया। एक बार ऐसा हुआ कि अच्छे होनहार के कारण चारित्र-मोह-कर्म के क्षयोपशम से उन्हें स्वतः अपने पूर्व के करोड़ों जन्मों का संसार-भ्रमण ज्ञात हो गया। वे इस प्रकार की पूर्व-घटित घटनाओं पर विचार कर बड़े ही क्षुब्ध हुए। उन्हें तत्काल ही वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे विचार करने लगे कि मोहरूपी महान शत्रु का सर्वनाश करने के लिये रत्नत्रयरूप तप का पालन ही श्रेयस्कर है। उन्होंने सोचा—चारित्र के अभाव में मेरा इतने दिन का समय व्यर्थ ही व्यतीत हो गया, जो अब प्राप्त नहीं हो सकता। पूर्वकाल में ऋषभादि

जितने भी तीर्थङ्कर हो गये हैं, उनकी आयु बहुत अधिक थी, इसलिये वे सब कुछ कर सकने में समर्थ हुए थे; पर हम सरीखे थोड़ी-सी आयुवाले मनुष्य सांसारिक कार्य कुछ भी नहीं कर सकते। वे नेमिनाथादि तीर्थङ्कर धन्य हैं जिन्होंने अपने जीवन की अवधि थोड़ी-सी समझ कर अल्पायु में ही मोक्ष के उद्देश्य से तपोवन की ओर प्रस्थान किया था। अतः संसार-हित करनेवाले अल्प आयुवाले व्यक्तियों को एक क्षण भी संयम के बिना व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए।

वस्तुतः वे बड़े ही मूर्ख हैं जो थोड़ी आयु पा कर तपस्या के बिना अपने अमूल्य समय को नष्ट कर देते हैं। वे यहां भी दुःख भोगते हैं और नरकादि की यातनायें भी। मैं ज्ञानी होते हुए भी संयम के अभाव में एक अज्ञानी की भाँति भटक रहा हूं। अब गृहस्थाश्रम में रह कर समय व्यतीत करना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। वे तीनों ज्ञान ही किस काम के, जिनके द्वारा आत्मा को और कर्मों को अलग-अलग न किया जाय तथा मोक्षरूपी लक्ष्मी की उपासना न की जाय? ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम फल उन्हीं महापुरुषों को प्राप्त है, जो निष्पाप तप का आचरण करते रहते हैं। दूसरों का ज्ञान तप के बिना नितान्त निष्फल है।

उस व्यक्ति के नेत्र निष्फल हैं जो नेत्र होते हुए भी अन्धकूप में गिरता है। वही दशा ज्ञानी पुरुषों की है, जो ज्ञान होते हुए भी मोहरूपी कूप में गिरे रहते हैं। वस्तुतः अज्ञान (अनजान) में किये पाप से छुटकारा तो ज्ञान प्राप्त होने पर मिल भी जाता है, पर ज्ञानी (जानकार) का पाप से मुक्त होना बड़ा ही दुष्कर होता है। अतएव ज्ञानी पुरुषों को मोहादिक निन्दनीय कर्मों के द्वारा किसी प्रकार का पाप नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि मोह से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेष से घोर पाप होता है। उस पाप के फलस्वरूप जीव को बहुत दिनों तक दुर्गतियों में भटकना पड़ता है; वह भटकना भी साधारण नहीं—अनन्तकाल तक का—जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

ऐसा समझ कर ज्ञानियों को चाहिए कि वे मोहरूपी शत्रु को वैराग्यरूपी तलवार से मार दें। कारण यह मोह ही सारे अनर्थों की जड़ है; पर यह स्मरण रहे कि यह मोह गृहस्थों द्वारा नहीं छोड़ा जा सकता; इसलिए पाप के बन्धन गृह को तो त्यागना ही पड़ेगा। गृह-बन्धन बाल्यावस्था में तथा यौवनावस्था में सारे अनर्थ उत्पन्न करता रहता है। अतः धीर-वीर पुरुष मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से गृह-बन्धन का सर्वथा परित्याग कर देते हैं। वे संसार में पूज्य और महापुरुष हैं जो यौवनावस्था में दुर्जेय कामदेव को भी परास्त करने में समर्थ होते हैं।

यौवनावस्था रूप राजा ने कामदेव को पंचेन्द्रिय आदि चारों काय के जीवों के जीवन को विकृत करने के लिये भेजा है; पर जब यौवन की अवस्था मन्द हो जाती है, तब उसके साथ बुढ़ापा रूप फन्दे में बंधे हुए वे कामदेवादि भी ढीले पड़ जाते हैं। अतएव यह उचित होगा कि मैं यौवनावस्था में ही उग्र तप आरम्भ कर दूं, जिससे कामदेव और पंचेन्द्रिय विषयरूपी शत्रुओं का सर्वनाश हो। इस प्रकार की चिन्ता कर वे महाबुद्धिमान महावीर स्वामी अपने चित्त को निर्मल कर राज्य-भोगादिकों से विरक्त हुए और मोक्ष-साधन में संलग्न हो गये।

महावीर प्रभु के चित्त में ऐसी भावना उत्पन्न हो गई कि उन्होंने घर को बन्दीगृह समझ कर राज्यलक्ष्मी के साथ उसका परित्याग कर दिया। वे तपोवन में जाने के लिये उद्यत हुए। समय पा कर उन्होंने लौकिक सुख को तिलाञ्जलि दे अक्षय सुख का भण्डार—वैराग्य प्राप्त कर लिया। ऐसे बाल ब्रह्मचारी महावीर प्रभु मुझे गुण-सम्पदा प्रदान करें।

एकादश प्रकरण

हन्ता शत्रु स्व-कर्म के, वीर आत्मरस लीन;
जगद्वंद्य पद-कंज मे, नमे भक्तिवश दीन।

जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं का हनन किया, जो सदा आत्मानुभव करते हैं और जगद्-

वंद्य हैं, उन वीर भगवान को यह दीन भक्तिवश वन्दना करता है।

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि महावीर प्रभु को एकाएक वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्हें सांसारिक भोगों से एकदम विरक्ति हो गई। वे अपने वैराग्य में वृद्धि होने के उद्देश्य से बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ और धर्मानुप्रेक्षा—इस प्रकार की बारह भावनायें हैं, जो वैराग्य को पुष्ट करती हैं।

(१) अनित्य भावना—तीनों लोकों में आयु यमराज से घिरी हुई है। यौवन वृद्धावस्था के मुख में है। यह शरीर रोगरूपी सर्प का बिल है और इन्द्रिय-सुख क्षणभंगुर हैं; अर्थात् जो कुछ भी सुन्दर से सुन्दर वस्तुएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे सभी कर्मों से उत्पन्न हुई हैं और समय आने पर स्वतः नष्ट हो जायेंगी। जब करोड़ों जन्मों से भी दुर्लभ मनुष्यायु मृत्यु से क्षण भर में नष्ट हो जाती है, तो अन्य वस्तुओं के स्थिर रहने की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? सब का सर्वनाश करनेवाला यमराज जन्म से लेकर समयादि के हिसाब से जीव को अपने पास घसीट ले जाता है। यौवन सुखादि प्राप्त होने से जीवों को प्रिय है, किन्तु यह भी व्याधि, रोग, मौत से घिर कर क्षण-भर में बादलों के समान नष्ट हो जाता है। कारण कोई जवान पुरुष रोगरूपी अग्नि से जलते हैं और कोई बन्दी गृह में बद्ध रह कर अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं।

नरक आदि का कारण निन्दनीय कार्य भी चञ्चल और सारहीन है और चक्रवर्ती की राज्यलक्ष्मी आदि भी बादल की छाया के समान विनाशवान और चञ्चल हैं, तब दूसरों की स्थिरता ही क्या हो सकती है? इस प्रकार संसार की सारी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं। अतः बुद्धिमानों को उचित है कि वे सर्वदा मोक्ष-प्राप्ति का साधन किया करें।

(२) अशरण भावना—जिस प्रकार निर्जन वन में सिंह के पंजे में आये हुए बालक को कोई शरण नहीं होती, उसी प्रकार संसार में प्राणी की रोग और मृत्यु से रक्षा करनेवाला कोई

नहीं होता। जिस प्राणी को यमराज ले जाने के लिये प्रस्तुत होता है, उसे इन्द्र, चक्रवर्ती, देव और विद्याधर आदि भी एक क्षण के लिये बचा नहीं सकते। वस्तुतः जब काल समक्ष आ जाता है, तब मन्त्रादिक और सारी औषधियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। जगत में भव्यों की रक्षा करनेवाले केवल जिन भगवान, साधु और केवली द्वारा उपदेश किया हुआ धर्म है। इसके अतिरिक्त तप, दान, जिन-पूजा, जप, रत्नत्रय आदि भी अनिष्ट और पापों के विध्वंसक हैं। जो बुद्धिमान संसार से भयभीत हो कर अर्हन्त आदि की शरण में जाते हैं, वे शीघ्र ही उनके सदृश गुणों की प्राप्ति कर परमात्मा पद को प्राप्त हो जाते हैं।

किन्तु जो मूर्ख चण्डी क्षेत्रपाल आदि मिथ्यात्वी देवों की शरण ग्रहण करते हैं, वे नरकरूपी समुद्र में पतित होते हैं। ऐसा विचार कर बुद्धिमानों को पञ्च परमेष्ठी की तथा तप-धर्मादि की शरण ग्रहण करनी चाहिए, जो सर्वथा दुःखों को विनष्ट करनेवाली है। रत्नत्रयादि के द्वारा मोक्ष की दूसरी शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वह अनन्त गुणों से युक्त और अनन्त सुख का समुद्र है।

(३) संसारानुप्रेक्षा—यह संसार अनादि और अनन्त है। इसमें अभव्यों को तो सुख ही सुख दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव सदा इसे दुःख रूप समझते हैं। कारण, अज्ञानी जन विषय को ही सुख मानते हैं, किन्तु ज्ञानी उसे नरकादि का कारण समझ अधिक दुःखरूप मानते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से घिरे हुए प्राणी रत्नत्रयरूपी धन के बिना अधिक काल तक भटकते रहते हैं और भविष्य में भी भटकते रहेंगे।

संसार में कोई ऐसे कर्म और कोई ऐसी गतियाँ न होंगी, जिनमें इस जीव को भटकना न पड़ा हो—यह द्रव्य-संसार (भ्रमण) है। लोकाकाश का ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा है, जिसमें इस जीव ने जन्म ग्रहण न किया हो और न मृत्यु ही प्राप्त की हो—यह काल-संसार है। नरकादि चार गतियों में ऐसी योनि नहीं बची होगी, जिसे इस जीव ने ग्रहण नहीं किया हो और न छोड़ा हो—यह भव-संसार है। ये संसारी जीव मिथ्यात्वादि सत्तावन

दुष्ट कारणों से भ्रमण करते हुए पाप कर्मों का सदा उपार्जन करते हैं—यह भाव-संसार है।

धर्म के अभाव में ही संसार के प्राणियों को भव-भव में भटकना पड़ता है। अतएव भव्यों को बड़े यत्नपूर्वक धर्म का पालन करना चाहिए। इस धर्म के पालन से अनन्त सुख-रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(४) एकत्व भावना—इस प्राणी को संसार मे अकेला ही जन्म धारण करना पड़ता है। यह अकेला ही भटकता है और अकेला ही महान सुख का उपभोगी होता है। वेदना आदि दुःख भी इसे अकेले ही सहन करने पड़ते हैं, उस दुःख के भाग को कुटुम्बीजन बांट नहीं सकते। यमराज की यन्त्रणा से यह अकेला ही रोता और चिल्लाता है, इसे एक क्षण के लिए भी कोई नहीं बचा सकता। यह अकेला ही अपने कुटुम्ब के पालन के लिये हिंसादि कर पाप का बंध करता है। उसके फलस्वरूप नरकादि खोटी गतियाँ प्राप्त कर अकेले ही अत्यन्त दुःख भोगता है—उसके साथी-कुटुम्बी नहीं भोगते। सम्यक्त्वादि शुभ कर्मों के बंध से अकेला होने के कारण स्वर्गादि महान विभूतियाँ इसे अकेले को ही प्राप्त होती हैं। रत्नत्रयादि के कारण इसे अकेले ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी स्थलों पर एकत्व की भावना भा कर ज्ञान की प्राप्ति के लिये आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

(५) अन्यत्व भावना—प्राणी, तू अपने को सब जीवों से सर्वथा अलग समझ। जन्म-मृत्यु-कर्म-सुखादि भी अलग मान ले। माता-पिता-पुत्र-कुटुम्बीजन कोई अपने नहीं। जब अपना अन्तरङ्ग शरीर भी मृत्यु के बाद साथ छोड़ देता है, तब बहिरङ्ग घर-स्त्री आदि अपने कैसे हो सकते हैं? निश्चय ही पुद्‌गल कर्म से उत्पन्न हुआ 'द्रव्य मन' तथा अनेक संकल्प-विकल्पों से भरा हुआ 'भाव मन'—दोनों प्रकार के वचन—ये सभी आत्मा से पृथक् हैं। कर्म और कर्मों के कारण अनेक प्रकार के सुख-दुःख इस जीव के दूसरे स्वरूप हैं।

इन्द्रियाँ भी ज्ञानस्वरूप आत्मा से पृथक् हैं और ये जड़ पुद्‌गल से उत्पन्न हुई हैं, जो कि राग-द्वेषादि के परिणाम से जीवमयी मालूम होती हैं। वे भी कर्मों द्वारा किये गये कर्मों

से उत्पन्न हैं—जीवमयी नहीं हैं। कर्म से उत्पन्न हुई अन्य वस्तुएँ भी आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता ही क्या? सम्यग्दर्शनादि आत्म-गुणों के अतिरिक्त अपना कोई नहीं है। अतएव हे योगीश्वरों! तुम अपनी ज्ञानस्वरूप आत्मा को शरीरादि से पृथक् समझ कर एवं शरीर को नाशवान समझ कर आत्मा का ही ध्यान करो।

(६) अशुचि भावना—यह शरीर रुधिर-वीर्य आदि से उत्पन्न हुआ है, सप्त धातुओं और मल-मूत्रादि से भरा हुआ है। भला ऐसे शरीर पर कौन बुद्धिमान आस्था रखेगा? जिस स्थल पर भूख-प्यास, बुढ़ापा व रोगरूपी अग्नि जला करती हैं; उस कायरूपी झोंपड़े में क्या सत्पुरुष रह सकते हैं? जिस शरीर में राग-द्वेष-कषाय-कामदेव रूपी सर्प हमेशा निवास करते हैं, ऐसे शरीररूपी बिल में कौन श्रेष्ठ ज्ञानी निवास करना पसन्द करेगा? यह पापी शरीर तो अशुद्ध है ही, साथ ही अपने आश्रित सुगन्धित वस्त्र आदि को भी विकृत कर डालता है। जिस प्रकार से भङ्गी की टोकरी कहीं से भी अच्छी नहीं लग सकती, उसी प्रकार चर्म-हड्डी आदि से निर्मित शरीर भी कभी सुन्दर नहीं दिखाई देता।

इस शरीर को पुष्ट करो अथवा सूखने दो, अन्त में इसे भस्म होना ही है। अतः इसे तपस्या के द्वारा कृश बना देना ही अत्युत्तम है। कारण—अन्न आदि से पुष्ट किया गया शरीर रोग आदि दुःखों को उत्पन्न करता है; पर यदि इसका शोषण किया जाय तो इसे परलोक में स्वर्ग-मोक्षादि प्राप्त होंगे। यदि इस शरीर से 'केवलज्ञान' आदि पवित्र गुण सिद्ध हो सकते हैं तो इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने की क्या बात है? ऐसा समझ कर ज्ञानियों को शरीर-सुख की कामना त्याग कर अविनाशी मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। बुद्धिमानों को चाहिए कि वे दर्शन, ज्ञान, तपरूपी जल से अपवित्र देह के कर्म-मल को धो कर अपनी आत्मा को पवित्र कर लें।

(७) आस्रव भावना—जब आत्मा में रागादि भावों से युक्त पुद्गलों का समूह कर्मरूप हो कर आवे, उसे ही कर्मों का आस्रव कहते हैं। वह अनन्त दुःखों का प्रदाता है। जिस प्रकार

छिद्रयुक्त जहाज में जल आने से जहाज समुद्र में डूब जाता है, ठीक उसी प्रकार यह जीव भी कर्मों के आने से संसार-सागर में कभी डूबता है, कभी तैरता रहता है। आस्रव के कारण ये हैं—मिथ्या-मतों से उत्पन्न पाँच प्रकार के मिथ्यात्व, बारह प्रकार की अविरति, पन्द्रह प्रमाद, पच्चीस कषायें और पन्द्रह योग—ये दुष्ट कारण बड़ी कठिनाई से दूर होते हैं। अतएव मोक्ष की आकांक्षा रखनेवाले जीवों को चाहिए कि वे सम्यक् चारित्र और तपरूपी खड्ग से कर्मास्रव के कारण रूपी शत्रुओं को विनष्ट कर दें। जो प्राणी कर्मों के आनेवाले दरवाजे को ज्ञानादि से नहीं रोक सकते; उन्हें कठिन तप करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

किन्तु जिन्होंने ध्यान-शास्त्राध्ययन और संयमादि से कर्मों का आना बिलकुल रोक दिया है; उनका मनोवांछित मोक्षरूपी कार्य सिद्ध हो चुका। जब तक योगों से चञ्चल आत्मा में कर्मों का आगमन है; तब तक मोक्ष प्राप्त होना दुष्कर है। इस सम्बन्ध से तो संसार की परिपाटी बढ़ती जाती है। ऐसा जान कर अशुभ आस्रवों को रोक रत्नत्रयादि के शुभ-ध्यान से अपने आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति कर निर्विकल्प शुद्ध ध्यान से कर्मास्रव को एकदम रोक देना चाहिए।

(८) संवर भावना—जहां मुनीश्वर योग-व्रत-गुप्ति आदि से कर्मास्रव के द्वारों को रोकते हैं; वही रोकना मोक्ष प्रदान करनेवाला संवर है। कर्मास्रव रोकने के जिन कारणों को मुनीश्वर प्रयत्नपूर्वक सेवन करें, वे हैं—तेरह प्रकार का चारित्र, दश प्रकार का धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहों का जय, निर्मल सामायिक, पाँच तरह का चारित्र, धर्म-शुक्लरूप शुभ-ध्यान और उत्तम ज्ञानाभ्यास। कर्मास्रवों के रोकने के लिये ये ही उत्तम कारण हैं। जिन मुनीश्वर के प्रति दिन कर्मों का संवर और कर्मों की निर्जरा होती है; उनके उत्तम गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। वे देह का कष्ट सहन करते हुए भी पाप कर्मों का संवर करते हैं। इस प्रकार संवर के गुणों को जान कर मोक्षाभिलाषी जीवों को सदा

सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और श्रेष्ठ योगों के द्वारा सब प्रकार का संवर करते रहना चाहिए।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा—पूर्व कर्म को तपस्या के द्वारा क्षय करना। ऐसी अविपाक निर्जरा योगियों को ही हुआ करती है। कर्म उदय होने पर जीवों के स्वभाव से ही जो निर्जरा हुआ करती है, वह सविपाक निर्जरा है। उसे त्याग देना चाहिए। कारण इससे नवीन कर्म उदय होते हैं।

तप और योगों के द्वारा जैसे-जैसे कर्मों की निर्जरा की जाती है, वैसे-वैसे मोक्ष-लक्ष्मी मुनीश्वरों के समीप आती जाती है। जब कर्मों की निर्जरा पूरी हो जाती है, तब योगियों को मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

यह निर्जरा सब प्रकार के सुख प्रदान करनेवाली है; अनन्त गुणों से युक्त है, सभी तीर्थंकर और गणधर इसकी सेवा करते हैं। यह सब दुःखों से अलग है और सब का समान रूप से हित करनेवाली है। इससे संसार-भ्रमण नष्ट होता है। इस भाँति निर्जरा के गुणों को जान कर संसार से भयभीत भव्य प्राणियों को कठिन तपस्या कर और परीषहों को सहन कर बड़े यत्न से मोक्ष-प्राप्ति के लिये कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए।

(१०) लोक भावना—जहां पर छः द्रव्य दिखलाई दें, वह लोक है। वह लोक अधो, मध्य और ऊर्ध्व रूप से तीन प्रकार का है, अकृत्रिम है और अविनाशी है। इस लोक के निम्न भाग में सात राजू प्रमाण नरक की सात भूमियाँ हैं। वे सब अशुभ और दुःख देनेवाली हैं। उनमें ऊनचास पटल (खन) हैं और चौरासी लाख रहने की बिलें हैं।

उनमें पूर्व कृत पापों के फलस्वरूप मिथ्यात्वी जीव नरक प्राप्त कर जन्म ग्रहण करते हैं। वहां पर उन्हें बड़ा कष्ट होता है। वे तरह-तरह से पीटे जाते हैं, सताये जाते हैं और सूली पर चढ़ाये जाते हैं। यह अधोलोक का कथन है।

मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि को लेकर असंख्यात द्वीप और लवण समुद्र हैं। पाँच सुमेरु

पर्वत हैं, तीस कुल पर्वत हैं, बीस गजदन्त हैं, एक सौ अस्सी वक्षार पर्वत हैं, चार इष्वाकार पर्वत हैं, दश कुरुवृक्ष मानुषोत्तर पर्वत के समान ऊँचे हैं। ये समस्त ढाई द्वीप में है और जैन-मन्दिरों से सुशोभित हैं। एक सौ सत्तर बड़े-बड़े देश और नगर हैं। मोक्ष देनेवाली पन्द्रह कर्म-भूमियाँ हैं। महानदियाँ, तालाब, कुण्ड आदि की संख्या अन्य शास्त्रों से जानी जा सकती है। श्री आदि छः देवियाँ छः हृदों पर रहती हैं। आठवें नन्दीश्वर द्वीप में अञ्जन गिरि के ऊपर बावन जैन मन्दिर हैं, उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूं।

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारे, नक्षत्र—ये असंख्यात ज्योतिषी देव मध्यलोक में है। उनके सब विमानों के मध्य में सुवर्ण-रत्नमय अकृत्रिम जिन-मंदिर हैं, जिन्हें मैं नमस्कार करता हूं। इस मध्य लोक के ऊपर सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक में सौधर्म आदि सोलह कल्प स्वर्ग हैं, उनके ऊपर नवग्रैवेयक; नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर—ये कल्पातीत स्वर्ग हैं। इनके विमानों के त्रेसठ पटल (खन) हैं। इनके विमानों की संख्या चौरासी लाख सत्तानबे हजार तेरह हैं। ये स्वर्ग-विमान सब इन्द्रिय सुखों को देनेवाले हैं। जो जीव पूर्व जन्म में विद्वान, तपस्वी, रत्नत्रय से विभूषित, धार्मिक अर्हन्त और निर्ग्रन्थ गुरु के भक्त, जितेन्द्री, श्रेष्ठ आचरणवाले हैं, वे ही जीव देव गति को प्राप्त हो स्वर्ग में जन्म धारण करते हैं। वहां उन्हें इन्द्रियजन्य सुख उपलब्ध होते हैं। स्वर्ग के अग्र भाग में रत्नमयी मोक्ष-शिला है। वह मनुष्य क्षेत्र के सदृश पैंतालिस लाख योजन की है और बारह योजन मोटी है।

उस शिला पर सिद्ध भगवान आसीन हैं। वे अनन्त सुख में लीन अनन्त हैं। उन्हें मैं नमस्कार करता हूं। इस प्रकार इन्द्रिय सुख दुखवाले तीन लोक के स्वरूप को जान कर अग्र भाग में जो मोक्ष-स्थान है, उसे रत्नत्रय तपस्या द्वारा केवल प्राप्त करने का प्रयत्न करो। मोक्ष अनन्त सुखों से परिपूर्ण है।

(११) बोधिदुर्लभ भावना—चारों गतियों में सर्वदा भटकते रहने से और कर्म-बन्ध करते हुए जीवों को 'बोधिदुर्लभ-भावना' का होना अत्यन्त कठिन है। प्रथम तो चार गतियों में

मनुष्य-गति ही कठिन है। द्वितीय आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घायु, पंचेन्द्रिय की पूर्णता, निर्मल बुद्धि, मन्द कषाय, मिथ्यात्व की कमी, विनयादि श्रेष्ठ गुण—इन सबकी उत्तरोत्तर प्राप्ति होना और भी कठिन है; पर इससे भी कठिन देव, गुरु, शास्त्ररूपी सामग्री का मिलना है। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की शुद्धि तथा निर्दोष तप तो इससे भी कठिन है।

जो बुद्धिमान उक्त सामग्रियों को प्राप्त कर मोह की परिसमाप्ति के बाद मोक्ष की सिद्धि करते हैं, उन्हीं महान पुरुषों को 'बोधि' (भेदज्ञान) में साफल्य मिला है; किन्तु भेद-विज्ञान की प्राप्ति होने पर भी जो मोक्ष की सिद्धि में प्रमाद करते हैं, वे मानो जलयान की शरण न ले संसार-समुद्र में डूबना-तिरना चाहते हैं। इस प्रकार विचार कर श्रेष्ठ पुरुषों को समाधि-मरण में तथा मोक्ष-साधन में विशेष प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा—उत्तम धर्म उसे कहते हैं, जो संसार-सागर में डूबते हुए प्राणियों को सहारा दे कर अर्हन्तादि पद के अथवा मोक्ष-स्थान के योग्य बनावे। धर्म के दश लक्षण हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य—धर्म की चाह रखनेवालों के लिये इनका पालन करना अनिवार्य है। कारण यह है कि इससे खोटे कर्म नष्ट होते हैं और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसी प्रकार रत्नत्रय के पालन से, मूलगुण उत्तर गुणों के धारण करने से और तपस्या से मोक्ष-सुख प्राप्त करानेवाला यतियों का धर्म पालन किया जाता है। धर्म के प्रभाव से तीनों लोक की दुर्लभ वस्तुयें स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। धर्मरूप मन्त्र द्वारा आकृष्ट हो कर मोक्ष-स्त्री स्वतः आलिंगन करती है।

संसार में जितनी भी दुष्प्राप्य वस्तुएँ हैं, वे सब धर्म के प्रसाद से अनायास प्राप्त होती हैं। धर्म ही माता-पिता, साथ-साथ चलनेवाला तथा हित करनेवाला है। वह कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और रत्नों का खजाना है। वे पुरुष इस संसार में धन्य हैं, जो सारे प्रमाद का परित्याग कर धर्म का पालन करते हैं और ऐसे पुरुषों की ही संसार में पूजा होती है;

किन्तु जो पुरुष धर्म न कर व्यर्थ समय व्यतीत करते हैं, वे पशु के सदृश हैं। ऐसा समझ कर
बुद्धिमानों को धर्म किये विना एक क्षण भी व्यर्थ जाने न देना चाहिए, क्योंकि मनुष्यायु
का कोई ठिकाना नहीं।

भव्य पुरुषों को उपरोक्त भावनाओं को चित्त में धारण करना चाहिए। ये भावनायें
सर्वथा विकार रहित हैं, तीव्र वैराग्य के कारण हैं, समस्त गुणों की राशि हैं, पाप-रागादि
से रहित हैं और जैन-मुनि इनकी (भावनाओं) सेवा किया करते हैं। ये भावनायें निर्मल
हैं, मोक्ष-लक्ष्मी की माता हैं, अनन्त गुणों की खानि हैं और संसार का त्याग करानेवाली
हैं। जो मुनीश्वर इन भावनाओं का प्रतिदिन चिन्तवन करते हैं, उन्हें स्वर्ग-मोक्षादि की
सम्पदा प्राप्त होना क्या कठिन है? जिन महावीर प्रभु ने पुण्य के उदय से देव-सम्पदा का
उपभोग कर जगद्गुरु तीर्थंकर हो कुमार अवस्था में ही कर्मों को नष्ट किया तथा जिन्हें
मोह प्राप्त करानेवाले देह-भोगों से परम वैराग्य उत्पन्न हुआ दीक्षा-प्राप्ति के लिए—मैं
उनकी स्तुति एवं उन्हें शतशः नमस्कार करता हूं।

द्वादश प्रकरण

परम तपस्वी वीरवर, मोक्ष-मार्ग मे लीन;
नमस्कार अर्हन्त को; करता है यह दीन।

बलवानों में श्रेष्ठ, महान तपस्वी, मोक्ष के सुख में लीन, कामरूपी सुख से विरक्त—
ऐसे श्री वीर प्रभु को मैं नतमस्तक नमस्कार करता हूं।

वीर भगवान को वैराग्य उत्पन्न होने के पश्चात् आठों लौकान्तिक देवों ने अपने
अवधिज्ञान से यह निश्चय कर लिया कि भगवान का तपकल्याणक का उत्सव मनाना
चाहिए। पश्चात् वे भगवान महावीर के पास आये। उन देवों ने अपने पूर्व-जन्म में द्वाद-
शांग श्रुत का अभ्यास किया था तथा वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन किया था। चौदह
श्रुत के जाननेवाले, स्वभाव से बाल ब्रह्मचारी, तपकल्याणक का उत्सव करानेवाले, एक

भव के बाद नियम से मोक्ष जानेवाले, देवों में श्रेष्ठ वीर आत्माओं को हम सादर नमस्कार करते हैं।

कर्मरूपी बैरियों को नाश करने में जो प्रयत्नशील हैं, ऐसे वीर भगवान को नमस्कार कर तथा स्वर्ग से लाये हुए पवित्र द्रव्यों से भगवान का पूजन कर वैराग्यमय परिणाम हो जाय, ऐसी वैराग्यमयी स्तुति द्वारा वे विद्वान लौकान्तिक देव भगवान का गुणगान करने लगे—

हे वीर प्रभु! आप जगत् के स्वामी हैं, गुरुओं के भी महान श्रेष्ठ गुरु हैं, ज्ञानियों में श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, समझदारों में आप सर्वश्रेष्ठ समझदार हैं। आप को हम विशेष क्या समझा सकते हैं? इसलिये स्वयंबुद्ध तथा सर्व पदार्थों के ज्ञाता, आप को हम क्या समझावें? क्योंकि आप स्वयं हमको सद्बुद्धि देनेवाले हैं। जिस प्रकार प्रकाशमान दीपक समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी तरह आप भी समस्त संसार के पदार्थों को प्रकाशित करेंगे। परन्तु भगवन! हमें सन्तोष होता है कि हम आप को समझाने के बहाने से आप के दर्शन और भक्ति करने को यहां आने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं। आप तो तीन ज्ञान के धारी हैं; आप को शिक्षा कौन दे सकता है? क्या सूर्य का दर्शन करने के लिये दीपक की आवश्यकता होती है? कदापि नहीं। हे देव, बलवान मोहरूपी शत्रु को जीतने के लिये आप ने जो उद्यम किया है, उसे देख कर संसार-समुद्र पार होने की इच्छा रखनेवाले अनेक भव्य आत्माओं का महान हित होगा। आप जैसे दुर्लभ जलपोत को पा कर असंख्यात भव्य जीव विकट संसार-सागर से पार हो सकेंगे। कितने ही भव्य जीव आप के पवित्र उपदेश से रत्नत्रय को अंगीकार कर उसके द्वारा 'सर्वार्थसिद्धि' जैसे स्थान में गमन करेंगे। कितने ही प्राणी आप की वाणी को सुन कर मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार का निवारण कर सब पदार्थों के साथ ही साथ मोक्ष-लक्ष्मी को भी देखेंगे। हे प्रभु, आप से बुद्धिमानों को मन-चाहे इष्ट पदार्थों की सिद्धि होगी। हे देव, आप के प्रसाद से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति

हो सकेगी।

हे दीनानाथ! मोहरूपी फन्दे में फँसे हुए भव्य प्राणियों को आप ही बराबर सहारा देंगे; क्योंकि आप ही तीर्थ को चलानेवाले धर्म-प्रवर्तक हैं। आप के वचनरूपी मेघ के वैराग्यरूपी अपूर्व वज्र को पा कर असंख्यात बुद्धिमान अत्यन्त उच्च मोहरूपी शिखर को अनायास ही खण्ड-खण्ड कर देंगे। आप के उपदेश से पापी प्राणी अपने पापों को नष्ट कर देंगे और कामी व्यक्ति काम-शत्रु को शीघ्र ही परास्त कर डालेंगे, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है। हे स्वामी! यह भी निश्चय है कि बहुत से प्राणी आप के चरण-कमलों के सेवन से दर्शन-विशुद्ध्यादि सोलह भावनाओं को स्वीकार कर के आप ही के समान हो जायेंगे।

प्रभो! संसार से बैर करनेवाले, वैराग्यरूपी अस्त्र को रखनेवाले आप के अवलोकन से मोह और इन्द्रियरूपी शत्रु अपनी जीवन-लीला समाप्त होने के भय से कांप रहे हैं। क्योंकि, हे दीनबन्धु! आप बलवान सुभट हैं, दुर्जय परीषहरूपी वीरों को क्षण-मात्र में जीतने की सामर्थ्य रखते हैं। इसलिये हे वीर प्रभो! आप मोह-इन्द्रियरूपी बैरियों को जीतने में तथा भव्यात्माओं का उपकार करने के लिए चारों घातिया कर्मरूपी शत्रुओं के नाश करने का शीघ्र उपाय करें; क्योंकि अब यह उत्तम समय तपस्या करने के लिये और भव्यों को मोक्ष ले जाने के लिये, आप के हाथ में आया है।

हे वीर प्रभु! आप को नमस्कार है, आप जगत-हितैषी हैं, आप ही मोक्षरूपी रमणी की प्राप्ति के लिये उद्योगी हैं; इसलिये आप को हम पुनः नमस्कार करते हैं। अपने ही शरीर के भोगों के सुख में इच्छा रहित हैं, इसलिये भी आप को नमस्कार है। मोक्षरूपी स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा रखते हैं, इसलिए आप को नमस्कार है। महान पराक्रमी, बाल ब्रह्मचारी, राज्यलक्ष्मी के त्यागी, अविनाशी लक्ष्मी में लीन आप को नमस्कार है। योगियों के भी आप महान गुरु हैं, इसलिए आप को नमस्कार है। सब जीवों के परम बन्धु हैं, जानकार हैं, इसलिए पुनः आप को नमस्कार है।

हे महान प्रभु! इस स्तुति द्वारा हम यही प्रार्थना करते हैं कि परलोक में चारित्र की सिद्धि के लिये आप हमें पूरी शक्ति दें। हे वीर प्रभु! वह शक्ति मोहरूपी शत्रु का नाश करनेवाली है। इस प्रकार जगतपूज्य श्री वीर भगवान की स्तुति और विनय-पूर्ण प्रार्थनायें कर के वे लौकान्तिक देव अपने-अपने स्थान को चले गये।

उसी समय घण्टादि के स्वयं बजने से भगवान का संयमोत्सव समझ कर भक्तिभाव से अपनी इन्द्राणियों के साथ समस्त देवादि सहित चारों जाति के इन्द्रों ने महान विभूति से विभूषित हो कर अपनी-अपनी सवारियों पर सवार हो नगरी में प्रवेश किया। देवों की सेना ने, अपनी पत्नियों सहित सवारियों पर चढ़े हुए, नगर और वन को चारों ओर से घेर लिया। पश्चात् इन्द्र ने भगवान महावीर स्वामी को एक सिंहासन पर बैठा कर अत्यन्त प्रसन्नता प्रदर्शित करते हुए गीत, नृत्य एवं 'जय-जयकार' शब्दों का उच्चारण करते हुए क्षीर-सागर से भरे हुए एक हजार आठ सोने के कलशों से वीर प्रभु का अभिषेक किया। इन्द्र ने उन त्रिलोकीनाथ को दिव्य आभूषणों और वस्त्रों से अलंकृत किया, सुगन्धित दिव्य मालायें पहनाईं। इस तरह इन्द्र ने भगवान को खूब सजाया। पश्चात्, भगवान ने, जन्म देनेवाली अपनी माता को, ज्ञानामृत से सिंचित प्रभावशाली, सरल और मीठे शब्दों में सान्त्वना प्रदान की, भाइयों को धैर्य बंधाया, अनेक प्रकार के उपदेशों से तथा वैराग्य को उत्पन्न करनेवाले वाक्यों से अपनी दीक्षा की बात समझा दी। पश्चात्, संयम-लक्ष्मी के सहवास-सुख में उद्यमी वे वीर प्रभु हर्ष के साथ समस्त राज्य-पाट, माता-पिता, भाई-बन्धुओं को त्याग कर इन्द्र द्वारा लाई हुई देदीप्यमान चन्द्रप्रभा नाम की पालकी पर आरूढ़ हो, दीक्षा के लिये वन की ओर चले गये। उस समय वे जगत के स्वामी समस्त देवों से घिरे हुए, दिव्य आभूषणों से युक्त, अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते थे।

सबसे पहले भूमिगोचरी देवों ने पालकी को उठाया और सात पैंड आगे ले जा कर उसे रख दी। पश्चात् विद्याधर आकाश-मार्ग से पालकी को सात पैंड ले गये; उसके बाद

धर्म से प्रेम रखनेवाले समस्त देवों ने अपना-अपना कन्धा लगाया और आकाश-मार्ग से चलने लगे। इस समय की शोभा का वर्णन करना इसलिये असम्भव है कि जिस पालकी को ले जानेवाले स्वयं इन्द्र ओर स्वर्ग के देवता लोग हों, उसकी अनुपम छटा का वर्णन क्या सामान्य लेखनी द्वारा हो सकता है ? उस समय हर्ष से पुलकित समस्त देव पुष्पों की वर्षा कर रहे थे, वायुकुमार देव गङ्गाजल कणों से युक्त मंद पवन प्रसारित रहे थे, कुछ देव भेरी बजा रहे थे। इन्द्र की आज्ञा से उन देवों ने यह घोषणा की कि भगवान का यह समय मोहादि शत्रुओं को जीतने का है। यह सुन समस्त देवों ने हर्षित हो कर प्रभु के सामने खूब उत्सव मनाया—"जयवन्त हो', आनन्दयुक्त हो, 'वृद्धि पाओ'—आदि शब्द होने लगे। दुन्दुभी बाजों के शब्द होने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं, किन्नरी देवियाँ मधुर शब्द में मोहरूपी शत्रु को जीतने का यश गान करने लगीं। प्रभु के आगे दिक्कुमारी देवियाँ मङ्गल अर्घ ले कर चलने लगीं। इस प्रकार भगवान महावीर नगर से वन को चले गये; नगर-निवासियों ने प्रभु की बहुत ही प्रशंसा की। कितने ही लोग यह भी कहते थे कि अभी जिनराज कुमार ही हैं, फिर भी अल्पायु में ही इन्होंने काम-रूपी प्रचण्ड शत्रु को पराभूत कर उच्च कोटि का पराक्रम किया है और आज मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये तपोवन को भी चले गये हैं।

इस तरह के उद्गार सुन कर अन्य लोग भी इसी तरह कहने लगे कि मोह तथा कामदेव-रूपी शत्रु को प्रभु ने ही जीत पाया है, दूसरे में यह सामर्थ्य नहीं है। उसके पश्चात् सूक्ष्म विचारवाले इस तरह कहने लगे कि यह सब वैराग्य का ही माहात्म्य है, जो अन्तरंग शत्रुओं का नाश करनेवाला है। वैराग्य के प्रभाव से पंचेन्द्री-रूपी चोरों को मारने के लिये स्वर्ग के भोग, तीन लोकों की सम्पदायें सब त्याग करनी पड़ती हैं, क्योंकि जिसके हृदय में पूर्ण वैराग्य का स्रोत बहता हो, वही चक्रवर्ती की विभूति का क्षण-भर में त्याग कर सकता है। दरिद्र मनुष्य अपनी कच्ची झोपड़ी को भी छोड़ने में समर्थ नहीं है। कुछ मनुष्य

यह भी कहते सुने गये कि यह बात सत्य है कि वैराग्य के बिना मन पवित्र नहीं हो सकता। इस तरह का वार्तालाप करते हुए बहुत से नगर-निवासी अतिशय देखने के लिये वन में पहुँचे। किन्तु भगवान के दर्शन होते ही उनका मस्तक स्वयं झुक गया। इस प्रकार त्रिलोकीनाथ नगर के बाहर आ पहुंचे।

जब माता ने भगवान के वनगमन का सम्वाद सुना तो पुत्र-वियोग में मूर्छित हो कर कोमल वेल के समान मुरझा गई। पश्चात् इस शोक को क्रमशः सहन करती हुई अनेक पुरजनों और बन्धुओं के साथ उनके पीछे-पीछे चलने लगीं। जाती हुई माता विलाप करती थीं कि हे पुत्र! तू तो मुक्ति से प्रेम लगा कर तपस्या करने चला, पर मुझे तेरे बिना कैसे चैन मिलेगा? किस तरह जीवन व्यतीत करूँगी? इस छोटी-सी अवस्था में तपस्या के महान उपसर्गों को तू किस प्रकार सहन करेगा? पुत्र, शीत-काल की भयङ्कर पवन के बीच तू जब दिगम्बर भेष में वन में विचरेगा, तब कैसे उस शीत को सहन करेगा? ग्रीष्म-काल की ज्वालाओं से समस्त वन जल जाता है, उस ज्वाला को कैसे सहेगा? श्रावण-भाद्र की काली घटाओं को देख कर अच्छे-अच्छे साहसियों का भी साहस छूट जाता है—बेटा! इन सब कष्टों को क्या तू सहन कर सकेगा? बस, ज्यों-ज्यों मेरा हृदय इन सब बातों का विचार करता है, त्यों-त्यों मुझे और भी कष्ट होता है। हे पुत्र! अति दुर्निवार इन्द्रिय-समूहों को, त्रैलोक्य-विजयी कामदेव को और कषायरूपी महाशत्रुओं को धैर्यपूर्वक तू अपने वश में कैसे कर सकेगा? बेटा! तू बालक है और अकेला है; फिर इस भयङ्कर वन की गुफाओं में किस प्रकार रह सकेगा? क्योंकि उन गुफाओं में नाना प्रकार के हिंसक जंगली जीव रहा करते हैं। इस तरह जिन-माता अत्यन्त करुण स्वर में विलाप करती हुई मार्ग में अति कष्ट से पैरों को बढ़ाती चली जा रही थी कि इतने में उनके पास महत्तर देव आये। उन्होंने सान्त्वना देते हुए कहा—'माता, क्या तुम इन्हें नहीं पहिचानती? ये तुम्हारे पुत्र संसार के स्वामी और अनुपम शक्तिशाली जगद्गुरु हैं! संसाररूपी समुद्र में अपने-आप

को विलीन कर लेने के पहले ही यह आत्म-प्रवेशी अपना उद्धार तो कर ही लेंगे, साथ ही अन्य कितने ही भव्य जीवों का भी उद्धार कर देंगे—यह ध्रुव सत्य है। जिस प्रकार भयानक सिंह भी मजबूत रस्सी से जकड़ा जाने पर सहज ही में दूसरे के वशवर्ती हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे ये पुत्र भी मोहादि पराक्रमी शत्रुओं को तप-रूपी रस्सियों से बांध कर उन्हें अपने वश में कर लेंगे। जिसके लिये संसाररूपी समुद्र का दूसरा किनारा पा लेना कतई दुर्लभ नहीं है, ऐसा सामर्थ्यशाली तुम्हारा यह पुत्र भला, दीनतापूर्वक कल्याणहीन गृह में कैसे रह सकेगा ? इनके ज्ञानरूपी तीन नेत्र हैं। संसार को इन्होंने सम्यक्रूपेण जान लिया है। फिर भला, वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर कोई अन्धकूप में क्यों गिरेगा ? इसलिये हे माता ! तुम इस पाप का बंध करनेवाले शोक को छोड़ दो। त्रैलोक्य को अनित्य समझ कर अपने घर जाओ और वहीं पर धर्म-साधना में अपने मन को लगाओ। अपनी प्रिय एवं इच्छित वस्तु के वियोग-काल में ज्ञानहीन पुरुष ही शोक किया करते हैं। जो ज्ञानी एवं बुद्धिमान होते हैं, वे सदैव संसार से डरा करते हैं और कल्याणकारी धर्म की ही उपासना किया करते हैं।' महत्तर देव की इन बातों को सुन कर जिन-माता कुछ शान्त हो गयीं। उनके हृदय में विवेकरूपी प्रकाशमयी किरणों का प्रादुर्भाव हुआ और हृदय का शोकान्धकार दूर हो गया। वे अपने विशाल हृदय में पवित्र धर्म को धारण कर अपने कुटुम्बियों एवं भृत्यजनों को साथ ले कर राजमहल को वापस लौट गयीं।

इसके बाद जिनेन्द्र महावीर प्रभु पार्श्ववर्ती देवों के साथ मानव-समाज का मङ्गल-गान आरम्भ होने के पूर्व 'खड्का' नाम के विशाल वन में संयम धारण करने के लिये पहुंचे। वह वन अत्यन्त रमणीक था। वहां फलपुष्पों से युक्त शीतल छायावाले सुन्दर-सुन्दर पेड़ थे, जो अध्ययन एवं ध्यान के लिये अधिक उपयुक्त थे। महावीर स्वामी अपनी पालकी से उतर कर 'चन्द्रकान्तमयी' एक स्वच्छ शिला पर बैठ गये। उस सुन्दर शिला की शोभा विचित्र थी। महावीर स्वामी के आने के पहले ही देवों ने आ कर उस शिला को सुरम्य

बना दिया था। वह शिला गोलाकार थी। उस शिला पर विशाल वृक्षों की शीतल एवं घनी छाया पड़ रही थी। चन्द्रकिरणों से भींगी सुरभित जल की बूंदें उस शिला पर छिड़की हुई थीं। बहुमूल्य रत्नों के चूर्ण द्वारा स्वयं इन्द्राणी के हाथ से उस शिला पर साथिये बनाये हुए थे। ऊपर कपड़े का मण्डप बना हुआ था। उसमें ध्वजा एवं रङ्ग बिरङ्गी सुन्दर मालाएँ टंगी हुई थीं। चारों ओर धूप का सुगन्धित धुंआ फैल रहा था और पास में मङ्गल द्रव्य सजाये हुए थे।

महावीर स्वामी उस सुन्दर स्वच्छ शिला पर उत्तराभिमुख बैठ गये और और मनुष्यों का कोलाहल शान्त हो जाने पर देह इत्यादि की इच्छा से विरक्त एवं मुक्ति-साधन में तत्पर हो कर शत्रु-मित्रादि के प्रति समदृष्टि हो उत्तम समान भाव का चिन्तवन करने लगे। उन्होंने क्षेत्र इत्यादि चेतन एवं अचेतन रूप वाह्य दस परिग्रहों का, मिथ्यात्व इत्यादि चौदह अन्तरंग परिग्रहों का और वस्त्र, अलङ्कार व माला इत्यादि वस्तुओं का परित्याग कर दिया तथा मनसा, वाचा कर्मणा पवित्र होकर शरीरादि में निस्पृहतापूर्वक आत्म-सुख की प्राप्ति में लग गये। प्रथम उन्होंने पल्यङ्कासन लगा कर मोह-बन्धन में फँसानेवाले केशों का लोंच किया (केश उखाड़ डाले)। बाद में जिनेश्वर स्वामी सम्पूर्ण पाप क्रियाओं से निर्मुक्त हो कर अट्ठाईस मूल-गुणों के पालन करने में तत्पर हो गये। आतापनादि योग से उत्पन्न उत्तम उत्तरगुणों को एवं महाव्रत, समिति तथा गुप्ति आदि को उन्होंने धारण किया। वे सब मे समता देखने लगे और सम्पूर्ण दोषों से रहित एवं सर्वश्रेष्ठ सामायिक संयम को उन्होंने स्वीकार किया। अन्त में उन्होंने मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी तिथि के सायंकाल, हस्त एवं उत्तरा नक्षत्र के मध्यवाले शुभ समय में दुष्प्राप्य जिन-दीक्षा को ग्रहण किया। यह जिन-दीक्षा मुक्ति-रूपी कामिनी की सहचरी (सखी) के समान थी। महावीर स्वामी के मस्तक में चिरकाल रहने के कारण परम पवित्र उनके केशों को स्वयं इन्द्र ने रत्न-जटित मंजूषा (पिटारी) में अपने हाथों से सम्भाल कर रखा। फिर इन्द्र ने केशों की

पूजा की, उन्हें उत्तम बहुमूल्य वस्त्रों से ढांका और समारोहपूर्वक क्षीर-समुद्र के स्वभाव-शुद्ध जल में बहा दिया। जब केश जैसी हीन वस्तु का भी, जिनेश्वर के संसर्ग में रहने के कारण इतना अधिक सम्मान किया जा सकता है; तब जो पुरुष साक्षात् जिनेश्वर भगवान की निरन्तर पूजा सेवा में उनके समीप रहते हैं, उन्हें संसार में ऐसी कौन-सी अलभ्य वस्तु है जो मिल नहीं सकती? उनकी सेवा से सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। इस संसार में जिन भगवान के कमल-रूपी चरणों के आश्रय में आ जाने से जिस प्रकार यक्षों को सम्मान प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रभु अरहन्त का जो लोग सहारा लेते हैं, वे चाहे नीच पुरुष ही क्यों न हों, उनकी पूजा होती है और उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसके बाद महावीर स्वामी ने दिगम्बर रूप को धारण किया। जब वे दिगम्बर हो गये, तब उनका शरीर तपाया हुआ स्वर्ण जैसा प्रकाशमान एवं तेजस्वी दीखने लगा। मानो, वह कान्ति एवं दीप्ति का स्वाभाविक तेजोमय समूह ही हो! इसके बाद परम प्रसन्न इन्द्र, परमेष्ठी महावीर प्रभु का गुण-गौरव-गान (स्तुति) करने लगे।

हे देव! इस संसार में सर्वश्रेष्ठ परमात्मा तुम्हीं हो। इस चराचर जगत के स्वामी तुम्हीं हो, तुम जगद्गुरु हो, गुण-सागर हो, शत्रु-विजेता हो और अत्यन्त निर्मल तुम्हीं हो। हे प्रभो, जब आप के असंख्य ऐश्वर्य एवं अनन्त गुणों का वर्णन स्वयं गणधरादि देव नहीं कर सकते, तब मन्दमति मैं कहां तक आप के महान गुण एवं ऐश्वर्यों का वर्णन कर सकूंगा? ऐसा सोच कर यद्यपि मेरी बुद्धि जड़ हो जाती है, तथापि आप के प्रति हमारी अचल भक्ति ही आप की स्तुति करने के लिये मुझे निरन्तर प्रोत्साहित कर रही है। हे योगीन्द्र! जिस प्रकार कि मेघ के आवरण हट जाने पर सूर्य किरणों की स्वाभाविक छटा बिखर पड़ती है, उसी तरह आज आप के वाह्य एवं आभ्यन्तर मलों के एकदम नष्ट हो जाने के कारण, आप के निर्मल गुणसमूह प्रकाशमान हो रहे हैं। स्वामिन्, यद्यपि आप ने इन्द्रिय-विषयजन्य चञ्चल सुखों को क्षणस्थायी जान कर छोड़ दिया है, तथापि

आप की इच्छा अत्यन्त उत्कृष्ट अविनश्वर आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए लालायित है। अतः आप को 'निस्पृह' (इच्छाहीन) कैसे कहा जा सकता है ? यद्यपि आप ने स्त्री के शरीर को नितान्त हेय, घृणित एवं अस्पृश्य समझ कर उस पर से अपना अनुराग (प्रेम) हटा लिया है, तथापि मुक्ति-रूपी स्त्री में तो आप का अनन्य अनुराग निरन्तर बना हुआ है। फिर हम आप को 'वीतराग' (प्रीति-रहित) भी कैसे कह सकते हैं ? जिन्हें संसारी लोग 'रत्न' कहा करते हैं, यद्यपि उन पत्थरों को आप ने त्याग दिया है, तथापि सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप 'रत्नत्रय' को आप ने धारण कर लिया है। फिर आप को 'त्यागी' भी कैसे कहा जाय ? यद्यपि आप ने क्षणभंगुर राज्य-सत्ता को पाप का आस्रव जान कर छोड़ दिया है, तथापि नित्य, अनाशवान् एवं अनुपमेय त्रैलोक्य के विशाल राज्य पर एकाधिपत्य स्थापित करने तो आप जा ही रहे हैं। फिर आप 'निस्पृह' कैसे रहे ? (यह निन्दा-स्तुति है।) हे जगत् के स्वामी आप ने इस संसार की चञ्चला लक्ष्मी का परित्याग कर के लोकोत्तर सम्पत्ति मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करने की इच्छा की है, फिर आप को 'इच्छा-रहित' कैसे समझा जाय ? हे देव, यद्यपि आप ने अपने ब्रह्मचर्य-रूपी तीक्ष्ण बाणों से अपने शत्रु कामदेव को परास्त कर दिया है, तथापि कामदेव की स्त्री रति को आप ने ही पति-हीन भी बना दिया है, फिर आप कृपालु कहां रहे ? हे नाथ, आप ने अपने ध्यान-रूपी अस्त्र से मोह-नृपति के साथ ही साथ अन्य सब कर्म-रूपी शत्रु सेवकों का नाश कर डाला है, फिर आप के हृदय में दयालुता कहां रही ? हे प्रभो, यद्यपि आप ने अपने गिने-गिनाये अल्पसंख्यक बन्धुओं का परित्याग कर दिया है, तथापि अब तो अपने गुणों के प्रभाव से सम्पूर्ण जगत को आप स्वयं बन्धु बनाने जा रहे हैं; फिर आप को कैसे कोई बान्धवहीन कह सकता है ? हे चतुर, आप ने सांसारिक भोगों को विष समझ कर सर्प की कांचुली के समान छोड़ कर शुक्ल-ध्यान-रूपी अमृत का पान कर लिया है, फिर आप का 'प्रोषध-व्रत' कैसे होगा ?

हे स्वामिन्, आप की इस दीक्षा को बुद्धिमानों ने आदर की दृष्टि से देखा है और इसने संसार के दाह को एकदम शान्त कर दिया है। आप की यह परम पवित्र महादीक्षा पुण्य-धारा के समान सदैव हम भव्य-जीवों की रक्षा करे। हे देव, मन-वचन एवं काय की विशुद्धतापूर्वक सम्पूर्ण जगत् को पवित्र कर देनेवाली दीक्षा को आप ने ग्रहण किया है। इसी महादीक्षा के बल पर मोक्ष चाहनेवाले आप को नमस्कार है। आप शरीर आदि के सुख से मुख मोड़ चुके हैं, मोक्ष-मार्ग में निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं, तप-रूपी लक्ष्मी से प्रीति करनेवाले हैं, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग परिग्रहों को छोड़नेवाले हैं। आप को नमस्कार है।

हे ईश! सम्यक्दर्शन ज्ञान, चारित्र-रूप तीन बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत, किन्तु अन्य पार्थिव आभूषणों से हीन आप को नमस्कार है। आपने सम्पूर्ण वस्त्रों का परित्याग कर शून्य दिशा-रूपी वस्त्रों को धारण किया है, ईश्वरत्व प्राप्ति की साधना में सोत्साह प्रवृत्त हैं; अतः आप को नमस्कार है। हे जिनेश्वर, आप सकल परिग्रहों से हीन एवं गुण-रूपी सम्मतियों से युक्त हैं, आप को मुक्ति अत्यन्त प्यारी है, इसलिये आप को नमस्कार है। हे नाथ, आप इन्द्रियातीत अक्षय सुख में चित्त को लगानेवाले विरक्त पुरुष हैं, उपवास कर के शुक्ल-ध्यान-रूपी अमृत के भोंक्ता हैं, आप को नमस्कार है। हे देव, आप दीक्षित हो कर ज्ञान-रूपी चार नेत्रों के धारक हैं, बाल ब्रह्मचारी हैं, तीर्थेश हैं और स्वयं बुद्ध हैं; आप को नमस्कार है। आप कर्म-रूपी शत्रुओं की सन्तति के नाशकर्त्ता हैं; गुणसागर हैं और श्रेष्ठ क्षमा इत्यादि शुभ-लक्षणों से युक्त हैं; आप को नमस्कार है। हे देव, आप इस संसार की सम्पूर्ण आशाओं को पूर्ण करनेवाले हैं, परन्तु हम आप की जो स्तुति कर रहे हैं, वह संसार की श्रेष्ठ सम्पत्तियों को पाने के लिये नहीं; किन्तु जिस शक्ति के प्रभाव से अल्पावस्था में ही आप ने तप-दीक्षा ग्रहण की है, उसी अतुलनीय शक्ति को प्राप्त करने के लिए — इस तरह देवों के इन्द्र ने महावीर भगवान की पूजा, स्तुति एवं नमस्कार कर के अपार पुण्य का उपार्जन किया।

इसके बाद महावीर स्वामी ने निश्चेष्ट हो कर अपने सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों का अवरोध किया एवं कर्मरूपी शत्रुओं की नाशक योग-क्रिया का अवलम्बन लिया। उस समय वे चेष्टाशून्य, सुन्दर पत्थर की मूर्ति के समान जान पड़ते थे। उस परमोत्तम ध्यान के प्रभाव से उन्हें चतुर्थ मनःपर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ, जो कि महावीर प्रभु के लिये केवलज्ञान प्राप्त होने का संकेत था। मनुष्यादि योनियों में प्राप्त होनेवाली सुख-सम्पदाओं को महावीर प्रभु ने निर्विकार हो कर उन्हें तुच्छ तृण के समान जान कर छोड़ दिय। और अविलम्ब दीक्षा ग्रहण कर ली। उन अनुपमेय महान् गुणशाली श्री वीरनाथ की मैं स्तुति करता हूं और उन्हें नमस्कार करता हूं।

त्रयोदश प्रकरण

ध्यान मग्न हो सोचते मुक्तिकामिनी सङ्ग। निज गुण दें अर्हन्त प्रभु बाधा-रहित निसङ्ग॥

अर्थात् परिग्रह से हीन एवं निर्बाध हो कर मुक्तिरूपिणी स्त्री से सुख-प्राप्ति के अभिलाषी और ध्यान में तल्लीन महावीर प्रभु को मैं नमस्कार करता हूं। वे अपने वीर-जनोचित गुणों को हमें प्रदान करें।

इसके बाद महावीर स्वामी यद्यपि छः मास पर्यन्त अनशन तप करने के पूर्ण योग्य थे, तथापि अन्य मुनीश्वरों को चर्या-मार्ग में प्रवृत्त कराने की इच्छा से उन्होंने 'पारणा' कर लेने का निश्चय किया। यह पारणा (उपवास के बाद का आहार) शरीर की स्थिति को शक्ति प्रदान करती है। महावीर प्रभु ईर्यापथ की शुद्धि को ध्यान में रख कर विचारने लगे—आहार-दान देनेवाला निर्धन है या धनवान ? इसका दिया हुआ आहार-दान पवित्र है अथवा अपवित्र ? इस प्रकार वे अपने चित्त में तीन प्रकार के वैराग्य का चिन्तवन करते हुए अनेक दानियों को अपने वचन से सन्तुष्ट करते हुए स्वयं विशुद्ध आहार की खोज में घूमने लगे। वे न तो मन्दगति से चलते थे और न एकदम तीव्रगति से ही। साधारण-सी चाल से पैरों को बढ़ाते हुए उन्होंने 'कूल' नाम के एक सुन्दर नगर में प्रवेश किया। उस

नगर का राजा 'कूल' जिनदेव जैसे उत्तम पात्र को स्वतः ही अपने नगर में पधारे हुए देख कर परम प्रसन्न हुआ, जैसे कोई अत्यन्त परिश्रम के बाद इच्छित धन-कोश को प्राप्त कर होता है। 'कूल' राजा ने महावीर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा दी और भूमि पर पाँच अंगों को फैला कर प्रणाम किया। बाद में आनन्दोल्लास के कारण 'तिष्ठ-तिष्ठ' (ठहरिये, ठहरिये) ऐसा कहा। धर्म-बुद्धि राजा ने प्रभु को एक पवित्र एवं ऊँचे स्थान पर बैठाया और उनके कमल जैसे सुन्दर एवं कोमल चरणों को पवित्र जल से धोया। प्रभु के पाद-प्रक्षालित जल को राजा ने श्रद्धा से अपने सम्पूर्ण अंग में लगाया। इसके बाद राजा ने जलादि आठ प्रकार के प्रासुक द्रव्यों से प्रभु की भक्तिपूर्वक पूजा की। राजा ने अपने मन में विचारा कि आज घर में सुपात्र उत्तम अतिथि के आ जाने से मेरा गार्हस्थ-जीवन सफल हुआ। मैं पुण्यकर्मा हूं। इस पवित्र विवेक से राजा का मन और भी विशेष पवित्र हो गया। 'हे देव! हे प्रभु! आज आप के आगमन से मैं धन्य हो गया, आप ने मेरे घर को परम पवित्र बना दिया'—ऐसा कहने से राजा का वचन पवित्र हो गया। 'पात्र-दान करने से मेरा हाथ एवं शरीर पवित्र हो गया'—ऐसा सोचने से राजा की काय-शुद्धि हो गयी। उसने कृत आदि दोषों से हीन प्रासुक अन्न से होनेवाले विमल आहार-दान से 'एषणा' को शुद्ध किया। इस प्रकार उस 'कूल' राजा ने नवधा-भक्ति द्वारा महान-पुण्य का उपार्जन किया।

'यह परम दुर्लभ उत्तम पात्र मेरे ही भाग्य से प्राप्त हुआ है, इसलिये मेरा यह आहार-दान सविधि एवं पूर्णरूपेण सम्पूर्ण है'—ऐसा श्रेष्ठ विचार कर के वह राजा अत्यन्त श्रद्धाशील बन कर अपनी शक्ति के अनुसार पात्र-दान के महान् उद्योग में लग गया। उस महादान के प्रभाव से उत्पन्न अजस्र रत्नवृष्टि एवं कीर्ति की अभिलाषा उस राजा ने नहीं की। वह सेवा, पूजा इत्यादि के द्वारा प्रभु की भक्ति में लग गया और धर्म-सिद्धि के निमित्त वह जो अन्य कर्मों को किया करता था, उन सब को तिलाञ्जलि दे दी। उस राजा ने सोचा

कि यह प्रासुक आहार है और दान देने का यही श्रेष्ठ समय है। यह संयमशील पुरुष उपवासों के उन असह्य क्लेशों को धैर्यपूर्वक सहन कर लेते हैं; इसलिये इन्हें उत्तम विधि से आहार देना ही चाहिये। इस प्रकार राजा ने महान फल को देनेवाले श्रेष्ठ दाता के उत्तम गुणों को अपने में ग्रहण किया। इसके बाद राजा ने हितकारक उत्तम पात्र को मनसा-वाचा-कर्मणा से पवित्र हो कर श्रद्धा-भक्ति के साथ विधिपूर्वक क्षीर का आहार-दान दिया। वह विशुद्ध आहार प्रासुक एवं स्वादिष्ट था, निर्मल तप को बढ़ानेवाला था और क्षुधा-पिपासा को शान्त करनेवाला था। उस राजा के दान से देवता लोग बहुत प्रसन्न हुए और पुण्योदय के कारण राज-प्रासाद के आँगन में रत्नों की अविरल वर्षा हुई। उस रत्न-वर्षा के साथ ही साथ पुष्प-वृष्टि एवं जल-वृष्टि भी हुई। उस समय आकाश-मण्डल में 'दुन्दुभि' इत्यादि बाजों की गम्भीर ध्वनि हुई। उन वाद्यों के मधुर स्वरों को सुनने से ऐसा जान पड़ता था, मानो वे राजा के पुण्य एवं उत्तम यश का गम्भीर स्वर में गान कर रहे हों। उसी समय देव भी 'जय-जय' इत्यादि शुभ शब्दों का उच्चारण करते हुए कहने लगे—'हे प्राणियों! यह परमोत्तम पात्र श्री महावीर प्रभु, दाता को इस संसार-रूपी महासमुद्र से अनायास ही पार उतार देनेवाले हैं। वह दाता निश्चय ही अत्यन्त भाग्यशाली एवं धन्य है, जिसके यहां जिनराज स्वयं पहुंच जायें। ऐसे उत्तम दान के प्रभाव से दाता को स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त होता है। इस लोक में तो तुम लोगों ने देखा ही होगा कि उत्तम पात्र को दान देने से बहुमूल्य अपार रत्न-राशि की प्राप्ति होती है एवं विमल यश का विस्तार होता है। वैसे ही परलोक में भी स्वर्ग-सम्पदायें एवं भोग-विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, जिनके द्वारा चिरकाल तक आनन्दोपभोग किया जा सकता है।' रत्नवृष्टि के कारण राज-महल का आँगन भर गया। आँगन में पड़े हुए उन रत्नों के ढेर को देख कर बहुत से लोग परस्पर कहने लगे कि देखो, दान का फल कैसा उत्तम है? आँखों से देखते २ यह राज-प्रासाद बहुमूल्य रत्नों की वर्षा से भर गया। दूसरे ने कहा—'यहाँ क्या देखते हो?

इस अत्यन्त सामान्य फल को ही तुम अपनी आँखों से देख रहे हो। उत्तम पात्र-दान से तो स्वर्ग एवं मोक्ष के अक्षय सुख अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।' इन लोगों के कथोपकथन को सुन कर एवं अपनी आँखों से पात्र-दान की महिमा को प्रत्यक्ष देख कर बहुत से प्राणी स्वर्ग एवं मोक्ष फल की कल्पना करने लगे और पात्र-दान की महत्ता में विश्वास करने लगे।

आहार-दान के समय वीतराग श्री महावीर तीर्थङ्कर ने केवल अपने शरीर की स्थिति के विचार से अञ्जलिरूपी पात्र के द्वारा खीर का आहार ग्रहण किया और इस आहार-ग्रहण के उत्तम फल से राजा को अनुगृहीत एवं उसके गृह को पवित्र कर वे पुनः वन को चले गये। राजा ने भी अपने जन्म, गृह एवं धन को अप्रत्याशित पुण्य-प्रभाव से मण्डित माना और वे अपना अहोभाग्य समझने लगे। इस श्रेष्ठ दान का मन-वचन-काय द्वारा अनुमोदन करने के कारण अर्थात् दाता एवं पात्र की प्रशंसा करने के कारण बहुत से लोगों ने दाता के समान ही उत्तम पुण्य का उपार्जन कर लिया।

उधर जिनेश्वर महावीर प्रभु, नाना देशों के अनेकों नगरों, ग्रामों एवं वन-उपवनों में वायु की तरह स्वच्छ गति से विचरने लगे। वे मोह—ममता से रहित थे और योग-ध्यानादि की सिद्धि के लिये सिंह के समान निर्भय हो कर रात्रि के समय में भी पर्वत की अन्धेरी गुफा में, श्मशान में और एकदम भयङ्कर निर्जन वन में रहते थे। वे क्रमशः, छट्ठे और आठवें उपवास से आरम्भ कर छः मास तक के अनशन-तप को करते थे। किसी पारणा के दिन तो वे अवमौदर्य तप और किसी पारणा के दिन लाभान्तराय की इच्छा से पापों को दूर करने के लिये 'चतुष्पक्षादि' की प्रतिज्ञा कर के व्रत-परिसंख्यान तप करते थे। कभी निर्विकारता पाने के लिये रस-त्याग तप करते थे एवं कभी उत्तम ध्यान के लिये वनादि के एकान्त स्थल में शय्यासन तप को करते थे। वर्षाकाल में जब कि सारी प्रकृति झंझावात के उग्र आलोड़न से थर्राती हुई दृष्टिगोचर हो रही थी, तब महावीर प्रभु धैर्यरूपी-

कम्बल को ओढ़ कर किसी वृक्ष के नीचे समाधि लगाये रहते थे। शीतकाल में वे किसी चतुष्पथ (चौराहे) पर अथवा सरिता-तट पर ध्यान में मग्न रहते थे। कितने ही वृक्षों को नष्ट कर देनेवाले भयङ्कर हिम-प्रपात को वे अपनी ध्यानरूपी अग्नि-शिखा से जला दिया करते थे। ग्रीष्मकाल में जब कि चारों ओर अग्नि-वर्षा हुआ करती थी, तब तब सूर्य की किरणों से भीषण तपे हुए पर्वत के शिला-खण्डों पर अपने ध्यानरूपी शीतल अमृत-जल का सिञ्चन किया करते थे। इस प्रकार वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं में शारीरिक सुख की हानि के लिये कायक्लेश तप की साधना में तत्पर रह कर नितान्त दुष्कर छः प्रकार के बाह्य तपों का महावीर प्रभु ने पालन किया। उन्हें प्रायश्चित्तादि तप की कोई आवश्यकता नहीं थी, इसलिये महावीर प्रभु अपने प्रमादशून्य एवं विजितेन्द्रिय मन को विकल्प-रहित कर के कायोत्सर्गपूर्वक कर्मरूपी शत्रुओं का समूल नाश करने के लिये आत्म-ध्यान में ही लगे रहते थे। वह ध्यान, कर्मरूपी वन को जला देने के लिये प्रचंड अग्नि के समान हैं एवं परमानन्द के दाता हैं। इस आत्म-ध्यान में लीन हो कर सम्पूर्ण आस्रवों को रोक देने से महावीर स्वामी के सब आभ्यन्तर तप तो पहिले ही हो चुके थे। इस रीति से महावीर प्रभु अपनी शक्तियों के प्रकट हो जाने पर भी, चिरकाल तक दत्तचित्त हो कर बारह प्रकार के श्रेष्ठ तपों की साधना में तत्पर रहे। इसके बाद प्रभु महावीर क्षमा गुण से युक्त हो कर पृथ्वी के समान अचल व प्रसन्न एवं विमल स्वभाव के कारण निर्मल स्वच्छ जल के समान शोभित हुए। वे दुष्ट कर्मरूपी जंगलों को जलानेवाली अग्नि थे एवं कषाय इन्द्रियरूपी शत्रुओं को मारनेवाले दुर्द्धर योद्धा थे। वे निरन्तर अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के द्वारा धर्म-साधन में तत्पर रहते थे और इहलोक एवं परलोक में अपार सुखों को प्रदान करनेवाले क्षमा आदि दश लक्षणों से युक्त थे।

अतुलनीय पराक्रमशाली महावीर प्रभु ने भूख, प्यास आदि स्वाभाविक क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण कठिन परीषहों को एवं वन के अति उग्र उपद्रवों को अपनी विलक्षण

शक्ति के प्रभाव से जीत लिया और उत्तम ज्ञान-प्राप्ति के लिये अतिचार-रहित एवं भावना सहित पञ्च महाव्रतों का पान किया। वे पाँच समिति एवं तीन गुप्ति—इन आठ का नित्यशः पालन करते एवं इनके द्वारा कर्म-धूलि को नष्ट करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। वे महावीर प्रभु श्रेष्ठ निवेदनशील थे; इसलिये निरलस हो कर सम्पूर्ण अन्यान्य गुणों के साथ ही सारे मूल गुणों के पालन में सचेष्ट रह किसी भी दोष को स्वप्न में भी अपने पास नहीं फटकने देते थे। इस प्रकार के परमोज्वल चारित्रयुक्त महावीर प्रभु सम्पूर्ण पृथ्वी पर विहार करते हुए उज्जयिनी नाम की एक महानगरी के 'अतिमुक्त' नामक श्मशान में जा पहुंचे। उस महाभयानक श्मशान में पहुंच कर महावीर प्रभु ने मोक्ष प्राप्ति के लिये शरीर का ममत्व छोड़ कर 'प्रतिमायोग' धारण कर लिया और पर्वत के समान अचल भाव से अवस्थित हो गये। सुमेरु पर्वत के उन्नत शृङ्ग के समान एवं परमात्मा के ध्यान में लीन श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु को देख कर, उनके धैर्य की परीक्षा करने के लिये वहां के 'स्थाणु' नामक अन्तिम रुद्र महादेव को भगवान पर उपसर्ग करने की इच्छा हुई। इसी समय पूर्वकृत कुछ पापों का भी उदय जिनेन्द्र के होनेवाला था। वह स्थाणु रुद्र अनेक भयङ्कर एवं नाम-कृति स्थूलकाय पिशाचों को अपने संग लेकर महावीर स्वामी के ध्यान को भङ्ग करने के लिये प्रस्तुत हुआ। रात्रि के समय में वह स्थाणुरुद्र अपने बड़े २ रक्तवर्ण नेत्रों को फाड़ कर देखते हुए श्री जिनेन्द्र प्रभु के सन्मुख आया। उस समय वह किलकारियाँ मार रहा था, नुकीले भयानक दाँतों को दिखा-दिखा कर अट्टहास कर रहा था। भगवान का ध्यान भङ्ग करने के लिये प्रचण्ड ताल, स्वर एवं लय में गा-बजा कर नाच रहा था; साथ ही विशाल मुख-विवर को फाड़े हुए और हाथों में तीक्ष्ण आयुधों को धारण किये हुए था। इस प्रकार के महाभयोत्पादक स्वरूप को लेकर वह महावीर स्वामी के सन्मुख आया और उनके ध्यान को भङ्ग करने के लिये उन पर बड़ा भारी उपसर्ग किया। परन्तु इन उपद्रवों का महावीर प्रभु पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और

उनका ध्यान यथापूर्व अचल एवं अटल बना रहा। जब इतना करने पर भी जिनेन्द्र के ध्यान को वह रुद्र भङ्ग नहीं कर सका, तब उसने दूसरे उपायों का अवलम्बन लिया। स्थाणुरुद्र ने सर्प, सिंह, हाथी, प्रबल वायु एवं अग्नि इत्यादि के रूप में आ कर तथा उत्पीड़क वचनों के द्वारा उग्र उपसर्गों को आरम्भ किया। इन उपसर्गों से निर्बल-हृदयों में तो भय का सञ्चार हो सकता था, किन्तु महावीर भगवान के हृदय में भय कहां? वे तो बराबर अचल ही बने रहे। उनका ध्यान भङ्ग होना तो दूर रहा, उत्तरोत्तर ध्यान की गम्भीरता बढ़ती ही गयी। जब स्थाणुरुद्र को इतने पर भी सफलता नहीं मिली, तब वह अन्य प्रकार के घोर उपसर्गों को करने लगा। भीलों का रूप धारण कर, भयानक शस्त्रास्त्रों को दिखा कर उसने प्रभु के हृदय में भय उत्पन्न करना चाहा, परन्तु इस प्रकार अनेक उग्र उपद्रवों से प्रपीड़ित होते रहने पर भी जगत्स्वामी जिनेन्द्र महावीर प्रभु रञ्चमात्र भी चलायमान नहीं हुए। वे पर्वत के समान एकदम अचल बने रहे; किंचित्मात्र भी खिन्नता का आभास उनकी मुखाकृति पर नहीं मिला। आचार्य ने कहा है—'सम्भव है कि अचल पर्वत भी कभी चलायमान हो जाय, परन्तु श्रेष्ठ योगियों का चित्त हजारों उग्र उपद्रवों के द्वारा भी कदापि चलायमान नहीं हो सकता। इस संसार में वे ही लोग धन्य हैं, जो कि ध्यानमग्न हो जाने पर अनेक उग्र उपद्रवों के होते रहने पर भी विकार-युक्त हो कर कदापि ध्यान भङ्ग नहीं होने देते।'

इसके बाद जब जिनेन्द्र महावीर स्वामी के ध्यान को भंग करने में स्थाणुरुद्र को कुछ भी सफलता प्राप्त करने की आशा नहीं रही, तब वह हताश एवं लज्जित हो कर वहीं उनकी स्तुति करने लग गया—'हे देव! इस संसार में तुम्हीं बली हो, तुम्हीं जगद्गुरु हो एवं वीर-शिरोमणि हो; इसीलिये तुम्हारा नाम 'महावीर' है। तुम महाध्यानी हो, सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हो, सकल परीषहों के विजेता हो, वायु के समान निःसंग वीर हो एवं कुलाचल की तरह अचल हो। तुम क्षमा में पृथ्वी के समान, गम्भीरता में समुद्र के

समान और प्रसन्नचित्त होने के कारण निर्मल जल के समान हो। कर्मरूपी जंगल को नष्ट करने के लिये तुम अग्नि-ज्वाला के समान हो। हे प्रभो! तुम त्रिलोक में वृद्धिष्णु हो एवं श्रेष्ठ बुद्धिशाली होने के कारण 'सन्मति' हो। तुम्हीं महाबली और परमात्मा हो। हे नाथ! तुम निश्चल रूप एवं प्रतिमा-योग के धारण करनेवाले हो। परमात्मा-स्वरूप तुम को सदैव नमस्कार है।' इस प्रकार स्थाणुरुद्र ने महावीर प्रभु की स्तुति कर के नमस्कार किया और भगवान के प्रति ईर्ष्या भाव छोड़ कर अपनी प्रिय पत्नी पार्वती के साथ आनन्दित हो कर अपने स्थान को चला गया। जब महापुरुषों के योगजन्य साहस एवं शक्ति को देख कर दुर्जन भी परम आनन्दित हो जाते हैं, तब सत्पुरुषों का तो कहना ही क्या? सज्जनों का तो दूसरों के गुणों पर मुग्ध हो जाने का स्वभाव ही होता है।

इसके बाद 'चेटक' नाम के एक प्रसिद्ध महाराजा की पुत्री, जिसका नाम 'चन्दना' था एवं जो शीलवान थी, का वृत्तान्त आता है। एक बार जब वन-क्रीड़ा में लीन थी, तब उसको एक विद्याधर बलपूर्वक उठा ले गया। बाद में उसे अपनी स्त्री का ध्यान आया और उसके क्रोध के भय से विद्याधर ने सती चन्दना को एक भयानक वन में तत्क्षण छोड़ दिया। चन्दना ने निश्चय किया कि सम्प्रति उसके पाप-कर्मों का उदय हुआ है; इसलिये वह पञ्च-नमस्कार मन्त्रों को जपती हुई धर्म-साधना में तत्पर हो गयी। वहां पर एक भीलों का राजा आया। वन में चन्दना को देख कर धन-प्राप्ति की इच्छा से उसे उठा कर उसने वृषभसेन नाम के एक सेठ को बेंच दिया और बदले में प्रचुर धन पाया। उस सेठ की सुभद्रा नाम की सेठानी थी। जब सेठानी देखा कि एक अत्यन्त रूपवती युवती स्त्री यहां आयी है, तब उसने सोचा कि यह अवश्य ही मेरी सौत होने को आयी है। ऐसा सोच कर उस सेठानी ने चन्दना के आकर्षक रूप को ही बिगाड़ डालने की इच्छा की एवं इसलिये उसने उसको प्रतिदिन कोदो का भात मिट्टी के बर्तन में रख कर खाने को देना आरम्भ कर दिया। उसे खिला चुकने के बाद वह चन्दना को लोहे की

सांकल से बांध दिया करती थी। परन्तु इस दारुण यन्त्रणा में भी चन्दना के मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ और अपने धर्म-कर्म पर वह सदा दृढ़ रही। यह कौशाम्बी नगरी की घटना है।

घटनाचक्र से एक दिन उसी कौशाम्बी नगरी में राग-शून्य महावीर प्रभु काय की स्थिरता के लिए आहार-ग्रहण करने की इच्छा से आये। उत्तम पात्र महावीर प्रभु को देखते ही चन्दना स्वयं बन्धनमुक्त हो गयी। पुण्योदय के प्रभाव से एवं पात्र-दान की इच्छा से वह प्रभु के पास पहुंची। दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत चन्दना सती ने प्रभु को विधिपूर्वक नमस्कार किया और बाद में भक्तिपूर्वक उन्हें पड़गाहा।

आहार-दान के लिये उसके पास केवल कोदो का भात था, किन्तु उस सती के शील की महिमा से कोदो का भात भी सुगन्धित एवं सुस्वादु चावलों का भात हो गया और वह मिट्टी का बर्तन एक सुन्दर स्वर्ण का पात्र हो गया। पुण्य-कर्म का प्रभाव ऐसा ही आश्चर्य-चकित कर देनेवाला होता है। वह पुण्य-प्रभाव असम्भव बात को भी अनायास ही सम्भव कर दिखाता है। निस्सन्देह इसके द्वारा सभी तरह की मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसके बाद उसने प्रसन्नतापूर्वक पुण्यरूप नव प्रकार की भक्तियों के साथ महावीर प्रभु को आहार-दान दिया। तत्क्षणोपार्जित आहार-दान-रूपी महापुण्य के प्रताप से सती चन्दना को रत्न-वर्षा, पाँच आश्चर्यप्रद वस्तुयें एवं पुनः पारिवारिक कुटुम्बी प्राप्त हुए। देखो, श्रेष्ठ-दान से क्या नहीं मिलता? सभी वस्तुयें दान के प्रभाव से प्राप्त हो सकती हैं। उत्तम दान के प्रभाव से चन्दना का निर्मल यश सम्पूर्ण संसार में फैल गया और स्वजन-मिलन भी हो गया।

इसके बाद महावीर प्रभु छद्मस्थ अवस्था में मौनी हो कर विहार करने लगे। बारह वर्ष बीत जाने पर वे जृम्भिका नाम के गांव के बाहर ऋजुकूला नाम की नदी के किनारे शाल-वृक्ष के नीचे बहुमूल्य रत्नों की शिला पर प्रतिमायोग धारण कर षष्ठोपवासी हो

गये और श्रेष्ठ-ज्ञान की सिद्धि के लिये ध्यान में तत्पर हुए। उन्होंने शीलरूपी अठारह हजार कवचों को धारण किया, चौरासी लाख गुणों को अपना आभूषण बनाया, महाव्रत अनुप्रेक्षा शुभ भावना-रूपी वस्त्रों से वे सुसज्जित हुये, संवेग-रूपी महा गजराज पर आरूढ़ हुये और रत्नत्रय-रूपी महाबाणों को धारण कर चारित्र-रूपी समर-भूमि में उतर पड़े। तप ही उनका धनुष था, ज्ञानदर्शन ही फणीच था। गुप्ति आदि सेनाओं से वे घिरे हुये थे। इस प्रकार महावीर प्रभु यथार्थ में ही 'महावीर' (महान् योद्धा) हो कर कर्म-रूपी दुष्ट शत्रुओं को मारने के लिये अनवरत उद्योग में तत्पर हो गये। सर्वप्रथम वे मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा से सकल कर्मनाशक एवं शरीरहीन सिद्ध पुरुषों का, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त ध्यान करने लग गये। जो सिद्ध पुरुषों के श्रेष्ठ गुणों के अभिलाषी हैं, वे क्षायिक-सम्यक्त्व, अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध—इन आठ श्रेष्ठ गुणों का सदैव ध्यान करते रहते हैं; क्योंकि उन्हें ऐसा ही करना चाहिये। इसके बाद विवेकशील महावीर प्रभु पवित्र मन से आज्ञा-विचय इत्यादि चार प्रकार के धर्म-ध्यानों के चिन्तवन में लगे। पूर्व के चार कषाय, मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ और देवायु, नरकायु एवं तिर्यञ्चायु—ये सब कर्म-रूपी दस शत्रु प्रभु के चतुर्थ से सप्तम गुण स्थान में अवस्थित होते ही स्वयं ही नष्ट हो गये। इन कर्म-रूपी महाशत्रुओं को नष्ट कर के विजयी महायोद्धा के समान महावीर प्रभु शुक्ल-ध्यान-रूपी विशाल आयुध को अपने हाथों में ग्रहण कर मोक्षरूपी राज-प्रासाद को प्राप्त करने के लिये क्षपक श्रेणीरूपी सीढ़ियों पर चढ़ने लगे और मार्ग के अन्य कर्मरूपी शत्रुओं के नाश में प्रवृत्त हुये। प्रथम अंश में सत्यानगृद्धि नाम के दुष्ट-कर्म, निद्रा-अनिद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्री-द्विइन्द्री-त्रिइन्द्री-चतुरिन्द्री-रूपी चार जातियाँ, अशुभ नरकगति, प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इत्यादि कर्मरूपी सोलह शत्रुओं को महावीर प्रभु ने पराक्रमी वीर की तरह

नष्ट कर दिया। तदुपरान्त उन्होंने शुक्ल-ध्यानरूपी तलवार को ग्रहण कर क्रमशः चारित्र के घातक आठ कषायों को द्वितीय अंश में, नपुंसक वेद को तृतीय अंश में, स्त्री वेद को चतुर्थ अंश में, हास्यादि छः को पञ्चम अंश में पुरुष वेद को षष्ठ अंश में, संज्वलन क्रोध को सप्तम अंश में, संज्वलन मान को अष्टम अंश में एवं संज्वलन माया को नवम अंश में पराभूत कर विनष्ट कर दिया। इस प्रकार कर्मरूपी शत्रुओं की अनेक सन्ततियों को नष्ट कर महावीर प्रभु दशवें गुणस्थान पर आरूढ़ हुये और वहां उस शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से संज्वलन लोभ को नष्ट कर क्षीणकषायी हो गये। वे सेना सहित मोह-कर्मरूपी राजा को नष्ट कर शूर-शिरोमणि के समान शोभायमान हुये। बाद में ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त हुये और वहां केवलज्ञान के उत्तम राज्य का अधिकार प्राप्त करने के लिये प्रयत्न-शील हुये। महावीर प्रभु ने बारहवें गुणस्थान के अन्तिम दो समयों में से पूर्व समय में निन्द्रा एवं प्रचला—इन दोनों कर्मों का नाश किया। इस कार्य में उन्हें शुक्ल-ध्यान के दूसरे भाग से सहायता मिली। इसके बाद फिर जगद्गुरु महावीर स्वामी ने शुक्ल-ध्यान के दूसरे हिस्से से पाँच ज्ञानावरण कर्म, चार दर्शनावरण कर्म और पाँच अन्तराय कर्मों का नाश कर दिया। जिस तरह कि तीक्ष्ण बाण से कपड़े की कई तहों को छेद दिया जाता है, उसी तरह प्रभु ने कर्मों का नाश किया। वे बारहवें गुणस्थान के अन्त में तिरेसठ प्रकृतियों का नाश कर के तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त हुये और उसी स्थान से उन्होंने अति उत्तम केवलज्ञान को प्राप्त किया जो अनन्त है, लोक-अलोक के स्वरूप का प्रकाशक है, अपरिमेय महिमाशाली है और अक्षय मोक्ष-राज्य को देनेवाला है।

जिनेन्द्र श्री महावीर प्रभु ने वैशाख शुक्ला दशमी के दिन सायंकाल के समय हस्त एवं उत्तरा-नक्षत्र के मध्य में शुभ चन्द्र योग होने पर मोक्षप्रदाता क्षायिक सम्यक्त्व, यथा-ख्यात संयम (चारित्र), अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक-दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं क्षायिक-वीर्य—इन श्रेष्ठ नौ क्षायिक लब्धियों को उपलब्ध किया। इस प्रकार

जब महावीर स्वामी ने घातिया-कर्मरूपी महाशत्रुओं को जीत लिया और केवलज्ञानीरूपी अलभ्य सम्पत्ति को पा लिया, तब आकाश से देवलोग 'जय-जयकार' करने लगे एवं दुन्दुभी आदि नाना प्रकार के मनोहर बाजे बजने लगे। अनेक देवों के विमान-समूह से सारा आकाश-मण्डल ढंक-सा गया। अजस्र पुष्प-वर्षा होने लगी। इन्द्र के साथ सब देवों ने महावीर स्वामी को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। आठों दिशायें और आकाश एकदम निर्मल हो गये। शीतल, मन्द सुगन्ध वायु बहने लगी, इन्द्रासन कम्पित होने लगा। इसी समय यक्षराज कुबेर महावीर प्रभु के अनुपमेय गुणों से मुग्ध हो कर भक्तिवश उनके समवशरण के उपयुक्त महासम्पदा की रचना में प्रवृत्त हुआ। जिस महावीर प्रभु ने घातिया-कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर के अनन्त एवं अनुपम क्षायिक गुणों को पा लिया है और सम्पूर्ण भव्य जीवों को परम आनन्द प्रदान करते हुये केवलज्ञानरूपी उत्तम राज्य को स्वीकृत किया है और जो भव्य जीवों के मुकुटमणि के समान शोभायमान हैं, उन त्रैलोक्यतारण समर्थ श्री महावीर प्रभु को, मैं उनके उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिये, नमस्कार एवं उनकी स्तुति करता हूं।

चतुर्दश प्रकरण

केवलज्ञान प्रकाश से, दूर किये अज्ञान। विश्व-अर्थ-उपदेश रत, प्रभु हैं परम महान ॥

श्री वीरनाथ भगवान तीन जगत के स्वामी हैं, केवलज्ञानरूपी सूर्य के समान अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश करनेवाले हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूं।

जब महावीर भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न होने के प्रभाव से देवताओं के यहां स्वर्ग में मेघ के सदृश घंटों का गम्भीर शब्द स्वतः होना आरम्भ हो गया, तब देवगण भी आनन्द से नाचने लगे। कल्पवृक्षों से पुष्पांजलि के समान फूलों की वृष्टि होने से समस्त दिशायें स्वच्छ हो गईं, आकाश भी बादलों से रहित हो पूर्ण निर्मल हो गया; इन्द्रों का आसन एकाएक चलायमान हो उठा, मानो केवलज्ञान प्राप्ति के आनन्दोत्सव में उन्मत्त इन्द्रों का

अभिमान वह सहन नहीं कर सकता; इन्द्रों के मुकुट स्वयं नम्रीभूत हो गये। इस तरह स्वर्ग में जब ये आश्चर्यकारी घटनायें घटने लगीं, तब इन्द्र को निश्चय हो गया कि भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई है। इसके प्रभाव से वह आनन्दित हो उठा और अपने आसन से उठ कर प्रभु की भक्ति में उसने अपने मन को लगाया।

उसी समय 'ज्योतिषी' जाति के देवों के यहां सिंहनाद हुआ, सिंहासन भी कम्पायमान हो गये। इसी तरह भवनवासी देवों के यहां भी शङ्ख की ध्वनि होने लगी। व्यन्तर देवों के महलों में भी भेरी अपने-आप बजने लगी; पूर्व की तरह अन्य आश्चर्यजनक और भी घटनायें हुईं। इस तरह की महान आश्चर्यमयी घटनाओं को देख कर सब इन्द्रों ने मस्तक नवा कर भगवान को परोक्ष में ही नमस्कार किया। ज्ञान-कल्याणक उत्सव मनाने के लिये सौधर्म इन्द्र के साथ देवों का समूह, बाजों-गाजों के साथ स्वर्ग से उतर कर भारत-वसुन्धरा की भूमि पर आया!

'बहालक' नाम के देवों ने जो विमान बनाया था, वह मोतियों की मालाओं से अत्यन्त शोभायमान हो रहा था, रत्नों के दिव्य तेज से चारों तरफ झिल-मिलाहट हो रही थी। छोटी-छोटी घंटियों के हिलने से जो शब्द हो रहा था, वह कानों को बहुत ही प्रिय मालूम होता था। नागदत्त नामक आभियोग्य जाति के देवों ने ऐरावत हाथी की रचना कर दी; वह बहुत ऊँचा था, उसकी सूंड बहुत ही सुन्दर और सुहावनी मालूम होती थी; उसका मस्तक ऊँचा और चौड़ा था एवं वह बहुत बलवान था। उसका शरीर बहुत स्थूल, अनेक सूंडों से सुशोभित था; वह इच्छित रूप बनानेवाला था तथा उसके श्वास-उच्छ्वास से सुगन्धि निकलती थी। दुन्दुभी बाजों की तरह शब्द करता हुआ, कर्ण रूपी चमरों से सुशोभित, दो बड़े-बड़े घण्टे बंधे हुए वह बहुत ही मनोज्ञ मालूम होता था। गले को घुँघरु की मालायें सुशोभित कर रही थीं, वर्ण सफेद था, पीठ पर सोने का सिंहासन बहुत ही दिव्य मालूम होता था। उस हाथी के ३२ दाँत थे, हरएक दाँत पर ३२ तालाब

जल से भरे हुए थे। प्रत्येक तालाब में एक-एक कमलिनी थी तथा हर कमलिनी के आस-पास में बत्तीस कमल थे, प्रत्येक कमल की बत्तीस पंखुड़ियाँ थीं। उन पंखुड़ियों पर सुन्दर अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। वे अप्सरायें अपने हाव-भाव से दर्शकों का मन मुग्ध करती थीं; सुरीले गाने गाती थीं तथा श्रृङ्गार रस के गानों से सब को प्रसन्न करती थीं। ऐसे ऐरावत हाथी पर अपनी इन्द्राणी सहित विराजमान होने से इन्द्र अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे।

वह इन्द्र श्री महावीर स्वामी के ज्ञान-कल्याणक की पूजा के निमित्त आया था, उसके अङ्ग पर के आभूषणों की शोभा बहुत ही रमणीक थी, आभूषणों के रत्नों की किरणों से वह प्रकाशमान सूर्य के सदृश मालूम होता था। प्रतीन्द्र भी अपने परिवार सहित अत्यन्त विभूति के साथ अपनी सवारियों पर आरूढ़ हो कर साथ ही साथ निकले। इसके अतिरिक्त इन्द्र के सदृश साज-सामानवाले सामानिक जाति के चौरासी हजार देव भी निकले तथा पुरोहित, मन्त्री, अमात्य के समान तेतीस देव भी शुभ-प्राप्ति के लिये इन्द्र के साथ-साथ चलने लगे। आभ्यन्तर परिषद बारह हजार देवों की थी; मध्यम सभा चौदह हजार देवों की तथा बाह्य सभा सोलह हजार देवों की थी। इस प्रकार यह तीनों देव-सभायें इन्द्र के चारों ओर घेरा डाल कर बैठ गईं। तीन लाख छत्तीस हजार देव शरीर-रक्षक के रूप में इन्द्र के पास आये। कोतवाल के सदृश लोक को पालनेवाले चार 'लोकपाल' देव इन्द्र के सामने आये। सात वृषभों की सेना में से चौरासी लाख सेना उत्तम वृषभ (बैलरूप धारी देव) इन्द्र के आगे आये। दूसरी से ले कर सातवीं सेना तक की प्रत्येक सेना में दूने-दूने वृषभ (देव) सेना में थे। इस तरह सात वृषभ-सेनायें इन्द्र के सामने उपस्थित हो गईं।

उसी तरह चेऊँ घोड़ों की सात सेना, मणिमय रथ, ऊँचे पर्वत की तरह हाथी, जल्दी चलनेवाली पैदल सेना, भगवान के गुणों को दिव्य कण्ठ से गानेवाले गन्धर्व जैन - धर्म सम्बन्धी गीत गाते हुए तथा वादित्रों के लय के साथ-साथ नाचनेवाली अप्सरायें नियमा-

तुसार क्रम से इंद्र के आगे-आगे चलने लगीं। पुरवासियों की तरह प्रकीर्णक जाति के असंख्यात देव, दासकर्म करनेवाले आभियोग्य जाति के देव, अछूतों जैसा काम करनेवाले किल्विषिक जाति के देव, सौधर्म इंद्र के साथ उस महोत्सव में सम्मिलित हुए।

घोड़े पर सवार हो कर अपनी विभूति सहित ईशान इंद्र भक्ति-भाव से इंद्र के साथ चलने लगा। सनत्कुमार इंद्र सिंह की सवारी कर रहे थे; माहेन्द्र इंद्र बैलों पर चढ़ा था; सारस की सवारी पर ब्रह्म इंद्र था; लांतवेन्द्र हंस पर तथा शुक्रेन्द्र गरुड़ पर था। सामानिकादि देव अपनी देवियों सहित भगवान के केवलज्ञान की पूजा के लिये निकले। आभियोग्य देवों में से 'शतार इंद्र' भी मोर की सवारी पर निकला। शेष आनत आदि कल्पों के अधिपति चार इंद्र पुष्पक विमान पर चढ़ कर पहुंचे। कल्प-स्वर्गों के बारह इंद्र, बारह प्रतीन्द्रों सहित अपनी सवारी पर चढ़ कर वहां पहुंचे। हजारों ध्वजा, पताकाओं, छत्र, चंवर आदि को लिये हुए एवं वादित्रों को बजाते हुए वे वहां पहुंचे। 'जय हो, जय हो!' के नारे लगाते हुए ज्योतिषी देव भी पटलों में पहुंचे। चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारेरूपी ज्योतिषी देव अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़ कर हर्षसहित 'जय-जयकार' करते हुए स्वर्ग से पृथ्वी पर उतर आये। असुर जाति के २० देव तथा भवनवासी १० देवों के इन्द्र भी अपनी देवियों सहित सवारी पर आरूढ़ हो रवाना हो गये।

पश्चात् प्रथम इंद्र, किन्नर, किंपुरुष, तत्पुरुष, महापुरुष, अतिकाय, महाकाय, गीतरति, रतिकीर्ति, मणिभद्र, पूर्णभद्र, भीम, महाभीम, सुरूप, प्रतिरूप काल, महाकाल आदि देव, आठ प्रकार के व्यन्तर देवों के सोलह इंद्र, सोलह प्रतीन्द्र देवों के सहित भगवान के ज्ञान-कल्याणक में सम्मिलित होने को पृथ्वी पर उतरे। ये चार निकाय के इन्द्र और देव अपनी इंद्राणियों और देवियों सहित सुशोभित थे। वे भगवान महावीर के दर्शनों की उत्कण्ठा से उनकी 'जय' बोलते हुए सभा-मण्डप के पास पहुंचे। वह मण्डप दूर से ही चमक रहा था; समस्त ऋद्धियों से परिपूर्ण था; रत्नों की किरणों से चारों दिशाओं को प्रकाशित

कर रहा था। ऐसे मण्डप को बनाने की सामर्थ्य सिवाय कुबेर के और किसी में नहीं हो सकती थी। उस मण्डप की रचना का वर्णन करने की शक्ति गणधर देव के अतिरिक्त और किसी में भी नहीं है। फिर भी भव्य जीवों को समझाने के लिये हम यथासाध्य समोशरण का वर्णन करना उचित समझते हैं। वह समोशरण एक योजन के विस्तार में बनाया गया था, गोलाकार था, इन्द्र-नील मणियों की किरणों से चमक रहा था; पृथ्वी से ढाई कोस ऊपर आकाश में था। सभा के चारों तरफ धूलिशाल नाम का परकोट रत्नों की धूलि से बनाया गया था। कहीं मूंगे का रंग, कहीं सोने का रंग, कहीं काला रंग, कहीं हरा रंग, कहीं इन्द्र-धनुप जैसा मिश्रित रंग सुशोभित हो रहा था। उसकी चारों दिशाओं में सोने के खम्भे लगे हुए थे। वे खम्भे लटकती हुई सुन्दर रत्नों की मालाओं से सुशोभित थे। उसके भीतर कुछ दूर जा कर चार वेदियाँ थीं, जिनमें पूजा की सामग्री सुशोभित थीं। उनमें चार दरवाजे थे तथा वे तीन परकोटों से युक्त थीं और उनमें सोने की १६ सीढ़ियाँ लगी हुई थीं। उसके बीच में सिंहासन थे, जिन पर जिनेन्द्र की प्रतिमायें विराजमान थीं। वे सब रत्नों के तेज से दैदीप्यमान थे। उनके बीच में चार छोटे-छोटे सिंहासन थे; उन वेदियों के बीचों-बीच चार मानस्तम्भ थे। उनके देखने मात्र से मिथ्या-दृष्टियों का मान-भङ्ग हो जाता था। वे मानस्तम्भ स्वर्ण के बने हुए थे और ध्वजा, घण्टाओं से सुशोभित थे। उनके ऊपरी भाग में जिनेन्द्र की प्रतिमायें थीं। उनके पास की जमीन पर चार बावड़ियाँ कमलों से सुशोभित थीं। बावड़ियों में रत्नों की सीढ़ियाँ लगी थीं, जिससे उनकी सुन्दरता और भी बढ़ गई थी। उन बावड़ियों के नाम नन्दोत्तरा आदि थे। उन बावड़ियों के किनारे पर जल से भरे हुए कुण्ड थे, जो कि यात्रा के निमित्त आये हुए जीवों की थकावट दूर करने के लिये उनके पैर धुलाने का काम कर रहे थे, वहां से आगे जाने पर जल से भरी खाई थी। उनमें कमल फूल रहे थे तथा उन कमलों पर भ्रमर सदैव गुञ्जार किया करते थे। हवा के झोकों से उन खाईयों में जो तरंगे उठती थीं और उस

समय जो शब्द होता था, उससे यही ज्ञात होता था कि वह तरंगें भी भगवान के ज्ञान-कल्याणक का गुण-गान कर रही हैं। उस खाई का पृथ्वी-भाग छः ऋतुओं के फल-फूलों से सुशोभित था। वहां पर देव और देवियों के लिये सुन्दर क्रीड़ा-स्थान (कुञ्ज) बने हुए थे। चन्द्रकान्त-मणि की शीतल शिलायें जिस जगह रखी हुई थीं, वहां इन्द्र विश्राम करते थे। वहां का पर्वत फल-फूलों से भरा हुआ, अशोक आदि महान वृक्षों सहित, भौंरों की गुञ्जार से अत्यन्त शोभायमान हो रहा था। उनके थोड़े ही आगे सोने का एक पर-कोट था, वह बहुत ऊँचा था। उसमें चारों तरफ मोतियों का जड़ाव था। उनको देख कर ऐसा ज्ञात होता था; मानो तारे ही चमक रहे हों। उस परकोट को देखने से कहीं मूंगा की तरह रंग की कान्ति, कहीं बादल के रंगत की तरह, कहीं नीले रतन की कान्ति के समान और कहीं इन्द्र-धनुष की तरह नाना रंगों से वह शोभायमान हो रहा था। यह परकोट हाथी, व्याघ्र, मोर, मनुष्यों के स्त्री-पुरुष के जोड़े तथा बैलों के चित्रों से भरा हुआ था। ये चित्र ऐसे मालूम पड़ते थे कि जैसे हँस रहे हों। उस कोट की चारों दिशाओं में चार दरवाजे थे। वे तिमंजिले थे। वे दरवाजे स्वयं प्रकाशित हो कर अपना प्रभाव बता रहे थे। महामेरु-पर्वत के समान अत्यन्त ऊँचे, पद्मरागादि मणियों के द्वारा बनाये गये दरवाजों के गगनचुम्बी शिखर अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे। उन विशाल दरवाजों पर बहुत से गायक, देव, गन्धर्व आदि तीर्थङ्कर श्री महावीर प्रभु के उत्तम गुणों का गान सुमधुर स्वर में कर रहे थे। इस गुण-गान को कुछ लोग तो सप्रेम सुन रहे थे, कुछ गुणों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे और कुछ देव-वृन्द उमंग में आ कर नाच रहे थे। प्रत्येक द्वार पर भृङ्गार-कलश एवं दर्पण इत्यादि आठ मांगलिक द्रव्य यथारीति रखे हुए थे। प्रत्येक द्वारों पर नानाविध रत्नों के बने हुए सौ-सौ तोरण बंधे हुए थे और उनमें से निकलती हुई विविध वर्ण की ज्योतियों के मिलने से आकाश चित्रित-सा जान पड़ता था। उन तोरणों में लगे हुए रत्नाभूषणों को देख कर जान पड़ता था कि रत्नों ने प्रभु के सुन्दर

शरीर को स्वभावतः ही देदीप्यमान देख कर वहां पर अपने रहने की आवश्यकता नहीं समझी और उनकी शारीरिक कान्ति से पराजित हो कर इन तोरणों में आ कर बंध गये हों। द्वार पर रखी हुई शङ्ख इत्यादि नौ निधियों को देख कर ऐसा जान पड़ता था, मानो अर्हन्त प्रभु के द्वारा तिरस्कृत हो जाने पर वे दरवाजे के बाहर आ गयी हैं और यहीं पड़ी रह कर भगवान की सेवा करने के लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रही हों।

उस दरवाजे के भीतर एक लम्बा-चौड़ा राज-पथ था और उसी के दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ बनी हुई थीं। इसी प्रकार चारों दिशाओं के चारों मुख्य द्वारों के भीतर दो-दो नाट्यशालाएँ बनी हुई थीं। वे बहुत ऊँची तिमञ्जिली नाट्यशालाएँ, मानो अपने मस्तक को उठाये प्राणियों से कह रही हों कि सम्यक्दर्शन इत्यादि तीनों स्वरूप ही मोक्ष के मार्ग हैं। नाट्यशालाओं की दीवारें स्फटिक मणि की बनी हुई थीं और उनके खम्भे सोने के बनाये गये थे। उन वैभवपूर्ण नाट्यशालाओं की रंग-भूमि में अप्सराओं का नाच हो रहा था। वहां पर बहुत से गन्धर्व देव अपने कोमल कण्ठ से प्रभु की विजय-गीत एवं केवलज्ञान के समय होनेवाले श्रेष्ठ गुण-गीतों को गा रहे थे। पूर्वोक्त राज-मार्ग की दोनों ओर सुगन्धित धूप से भरे हुए दो कलश (घड़े) रखे थे और जलते हुए धूप की सुगन्धि से वायुमण्डल सुगन्धित हो रहा था। इस मार्ग से कुछ दूर आगे जाने पर चार उद्यान-वाटिकाएँ बनी हुई थीं। इनमें समस्त ऋतुओं के फल-पुष्प सदैव लगे रहते थे। इसलिये ये चार दूसरे नन्दन-वन ही जान पड़ते थे। उन उपवनों में वीथियाँ (गलियाँ) बनी हुई थीं। उनमें अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक एवं आम्रवृक्ष की क्रमशः चार-चार वन-श्रेणियाँ थीं, इनके वृक्षसमूह बहुत ऊँचे-ऊँचे थे। उन उपवनों के बीच-बीच में त्रिकोण एवं चतुष्कोण वापियाँ (बावड़ियाँ) बनी हुई थीं और बावड़ियों में सुन्दर-सुन्दर कमल सुशोभित थे। इसके अतिरिक्त कहीं नयनाभिराम राज-प्रासाद था, तो कहीं क्रीड़ा-गृह था, कहीं कौतुक-मण्डप था; कहीं आकर्षक चित्रशालाएँ थीं, कहीं कृत्रिम (बनावटी)

पर्वत-श्रेणियाँ और कहीं बाहर के विचित्र दृश्यों को देखने के लिये गगनचुम्बी (बहुत ऊँची) अट्टालिकाएँ बनी हुई थीं। एक-मंजिले और दो-मंजिले मकानों की भी क्रमबद्ध पंक्तियाँ (कतार) बनी हुई थीं। उन उपवनों की प्रथम अशोक-वन-वीथी में सुवर्ण की बनी हुई तीन कटनीदार ऊँची एवं मनोहर वेदिका बनी हुई थीं और उस सुन्दर वेदिका पर अशोक चैत्यवृक्ष था। वह तीन परकोटों से घिरा हुआ था और प्रत्येक परकोट में चार-चार द्वार थे। उस अशोक चैत्यवृक्ष के ऊपर बजनेवाले घण्टों युक्त तीन सुन्दर छत्र टंगे हुये थे। वह वृक्ष देव-पूजित जिन-प्रतिमाओं से तथा ध्वजा, चमर एवं मंगल-द्रव्य इत्यादि से सुशोभित तथा ऊँचे होने के कारण जम्बू-वृक्ष के समान जान पड़ता था। चैत्यवृक्ष की जड़ के पास चारों ओर श्री जिनेन्द्रदेव की पवित्र प्रतिमाएँ थीं। सुरेन्द्र पुण्य-प्राप्ति की इच्छा से मनोज्ञ द्रव्यों से उन प्रतिमाओं की सदैव पूजा किया करते थे। इसी प्रकार सप्तपर्ण, चम्पक एवं आम्रवृक्ष के तीनों वनों में भी ऐसे ही सुन्दर चैत्यवृक्ष थे। अर्हन्त की प्रतिमाओं से विभूषित होने के कारण देवता लोग उन चैत्यवृक्षों की पूजा किया करते थे। वहां माला, वस्त्र, मोर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी एवं चक्र इत्यादि दस प्रकार की अत्यन्त ऊँची ध्वजायें (पताकाएँ) सुशोभित हो रही थीं। ध्वजायें ऐसी जान पड़ती थीं, मानो प्रभू ने मोहनीय-कर्मों को जीत कर सम्पूर्ण जगत के ऐश्वर्य को एकत्रित कर लिया है। प्रत्येक दिशा में पृथक्-पृथक् चिह्नवाली एकसौ आठ ध्वजायें थीं। वे आकाशरूपी समुद्र की तरंगों के समान जान पड़ती थीं। जब वायु के वेग से इन ध्वजाओं में कम्प एवं ध्वनि आ जाती थी, तब ऐसा जान पड़ता था, मानो वे सब भव्य-जीवों को भगवान की पूजा करने बुला रही हों। माला-चिह्नित ध्वजाओं में सुन्दर सुरभित एवं कोमल पुष्पों की मनोहर मालाएँ लटक रही थीं। वस्त्र-चिह्नयुक्त ध्वजाओं में सूक्ष्म (पतले) वस्त्र लटक रहे थे। मयूर (मोर) चिह्नवाली तथा अन्यान्य चिह्नवाली ध्वजाओं में भी चतुर देव-शिल्पियों के द्वारा बनायी हुई सुन्दर मूर्तियाँ लगी हुई थीं। पूर्वोक्त

समस्त चिह्नवाली ध्वजाओं की सम्मिलित संख्या एक दिशा में एक हजार अस्सी और चारों दिशाओं की सम्मिलित संख्या चार हजार तीन सौ बीस थी। उस चैत्यवृक्ष से आगे बढ़ने पर भीतरी भाग में एक दूसरा चाँदी का परकोट बना हुआ था। इस चाँदी के परकोट का निर्माण (बनावट) आकार, प्रकार और सजावट सभी कुछ प्रथम परकोट के ही समान थी; दरवाजे भी थे और उसी तरह के रत्नतोरण, नवनिधियाँ, सम्पूर्ण मंगलद्रव्य एवं मार्ग के दोनों ओर धूप से भरे हुये दो घड़े रखे हुये थे, जो स्वयं अपनी सुरभि से वायु-मण्डल को अपने वश में कर रहे थे। नाट्यशालाओं की विभूतियाँ भी पूर्ववत् ही थीं। नृत्य, गान, वाद्य सभी एक जैसे थे। इसके बाद कुछ और आगे बढ़ने पर उसी मार्ग में कल्पवृक्ष दृष्टिगोचर हो रहे थे। वे विविध रत्नों की जगमगाहट से अत्यन्त शोभायमान दीख पड़ते थे। कल्पवृक्ष की उत्तम-उत्तम विपुल विभूतियाँ किसी महान् राजा की विभूतियों से कम न थीं। माला, वस्त्र, रत्न, आभूषण, दिव्य फल, पुष्प एवं शीतल छाया इत्यादि दुर्लभ विभूतियों से वह युक्त था। वे दस प्रकार के थे। इन दस विविध कल्पवृक्षों को देख कर यह सहज ही में जाना जा सकता था कि स्वयं देवकुरु, उत्तरकुरु, भोगभूमि ही इन कल्पवृक्षों को साथ लेकर, श्री जिनेन्द्र प्रभु की सेवा करने के लिये प्रस्तुत हों। कल्पवृक्ष के फल आभूषणों की तरह दीख पड़ते थे, पत्ते वस्त्र के समान थे और शाखाओं (डालों) से लटकती हुई सुन्दर मालाएँ वटवृक्ष की जटाओं के समान जान पड़ती थीं। उनमें से 'ज्योतिरांग' कल्पवृक्ष के नीचे 'ज्योतिष्क' जाति के देव रहते थे, 'दीपांग' कल्पवृक्ष के नीचे 'कल्पवासी' देव और 'मालांग' कल्पवृक्ष के नीचे भवनवासी इंद्र स्वयं रहते थे। कल्पवृक्ष-वन के बीच में अति रम्य सिद्धार्थ-वृक्ष थे और उनके मूल में छत्र-चामरादि से अलंकृत प्रभु की प्रतिमाएं थीं। पूर्वकथित चैत्यवृक्ष के समान ही इनकी भी स्थिति की भिन्नता केवल इतनी ही थी कि वे कल्पवृक्ष अपनी इच्छानुसार अभीष्ट फल को देनेवाले थे। इस कल्पवृक्ष-वन को चारों ओर से घेरे हुये बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई स्वर्ण वेदिका बनी हुई

थी और वह ज्योतियों से जगमगा रही थीं।

उसमें चाँदी के बने हुये चार दरवाजे थे। उनके शिखरों पर मोतियों की मालाएँ गूंथीं हुईं थीं एवं घण्टियाँ लटक रहीं थीं; गान, वाद्य, एवं नृत्य हो रहा था; पुष्पमाला इत्यादि मंगल की आठ वस्तुयें धरी हुईं थीं; प्रकाशमान रत्नों के द्वारा बनाये गये तोरण लटक रहे थे। इन दरवाजों के बाद राज-पथ पर स्वर्ण-स्तम्भ के आगे अनेक प्रकार की ध्वजाएँ लटक रहीं थीं और एक अद्भुत छटा को बिखेर रहीं थीं। रत्न-जटित पीठासन पर खड़े किये गये उन स्तम्भों को देख कर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे खड़े हो कर सम्पूर्ण भव्य जीवों को—'प्रभु ने कर्म-शत्रुओं को अनायास ही जीत लिया है'—इस बात को सुनाने का प्रयत्न कर रहे हों। उन खम्भों की गोलाई अठ्ठासी अंगुल की थी। पच्चीस धनुष [पचास गज] की दूरी थी। इस प्रकार का वर्णन गणधर देव ने किया। मानस्तम्भ, सिद्धार्थ चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण सहित प्राकार एवं वन-वेदिकाओं की ऊंचाई तीर्थङ्कर की ऊंचाई से बारह गुणी अधिक थी। बुद्धिमान पुरुषों को इसी के अनुकूल लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान कर लेना चाहिये। पूर्वोक्त वन-श्रेणी, राज-प्रासाद एवं पर्वतों की ऊंचाई को भी इसी के अनुपात से समझना होगा—इस प्रकार द्वादशांग के पढ़नेवाले गणधर देव ने कहा। पर्वत अपनी ऊंचाई से अठगुने चौड़े और स्तूप अपनी ऊंचाई से कुछ अधिक मोटे हैं। तत्त्ववेत्ता देवताओं के द्वारा पूजित गणधर देव ने वेदिका इत्यादि की चौड़ाई, ऊंचाई की अपेक्षा चौथाई कही है। उन वनों के बीच-बीच में कहीं पर जल-भरी बहती हुई नदियाँ, कहीं बावड़ी, कहीं रेतीला जमीन और कहीं विशाल सभा-मण्डप बने हुये थे। वन के विशाल राज-मार्ग पर ऊंची स्वर्णवेदिका बनी हुई थी, उसमें सुन्दर-सुन्दर चार दरवाजे बने हुये थे। इनमें भी रत्न-तोरण, आठ मंगल द्रव्य एवं आभूषण आदि वैभव तथा नृत्य, वाद्य एवं गीत इत्यादि पूर्व-कथित द्वारों के जैसे ही विद्यमान थे। इन सबके बाद एक अत्यन्त विशद गली थी, जिसे चतुर देव शिल्पियों ने बनाया था। इस गली के दोनों बगल

थी और वह ज्योतियों से जगमगा रही थीं।

उसमें चाँदी के बने हुये चार दरवाजे थे। उनके शिखरों पर मोतियों की मालाएँ गूंथीं हुईं थीं एवं घण्टियाँ लटक रहीं थीं; गान, वाद्य, एवं नृत्य हो रहा था; पुष्पमाला इत्यादि मंगल की आठ वस्तुयें धरी हुईं थीं; प्रकाशमान रत्नों के द्वारा बनाये गये तोरण लटक रहे थे। इन दरवाजों के बाद राज-पथ पर स्वर्ण-स्तम्भ के आगे अनेक प्रकार की ध्वजाएँ लटक रहीं थीं और एक अद्भुत छटा को बिखेर रहीं थीं। रत्न-जटित पीठासन पर खड़े किये गये उन स्तम्भों को देख कर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे खड़े हो कर सम्पूर्ण भव्य जीवों को—'प्रभु ने कर्म-शत्रुओं को अनायास ही जीत लिया है'—इस बात को सुनाने का प्रयत्न कर रहे हों। उन खम्भों की गोलाई अट्ठासी अंगुल की थी। पच्चीस धनुष [पचास गज] की दूरी थी। इस प्रकार का वर्णन गणधर देव ने किया। मानस्तम्भ, सिद्धार्थ चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण सहित प्राकार एवं वन-वेदिकाओं की ऊंचाई तीर्थङ्कर की ऊंचाई से बारह गुणी अधिक थी। बुद्धिमान पुरुषों को इसी के अनुकूल लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान कर लेना चाहिये। पूर्वोक्त वन-श्रेणी, राज-प्रासाद एवं पर्वतों की ऊंचाई को भी इसी के अनुपात से समझना होगा—इस प्रकार द्वादशांग के पढ़नेवाले गणधर देव ने कहा। पर्वत अपनी ऊंचाई से अठगुने चौड़े और स्तूप अपनी ऊंचाई से कुछ अधिक मोटे हैं। तत्त्ववेत्ता देवताओं के द्वारा पूजित गणधर देव ने वेदिका इत्यादि की चौड़ाई, ऊंचाई की अपेक्षा चौथाई कही है। उन वनों के बीच-बीच में कहीं पर जल-भरी बहती हुई नदियाँ, कहीं बावड़ी, कहीं रेतीला जमीन और कहीं विशाल सभा-मण्डप बने हुये थे। वन के विशाल राज-मार्ग पर ऊंची स्वर्णवेदिका बनी हुई थी, उसमें सुन्दर-सुन्दर चार दरवाजे बने हुये थे। इनमें भी रत्न-तोरण, आठ मंगल द्रव्य एवं आभूषण आदि वैभव तथा नृत्य, वाद्य एवं गीत इत्यादि पूर्व-कथित द्वारों के जैसे ही विद्यमान थे। इन सबके बाद एक अत्यन्त विशद गली थी, जिसे चतुर देव शिल्पियों ने बनाया था। इस गली के दोनों बगल

समस्त चिह्नवाली ध्वजाओं की सम्मिलित संख्या एक दिशा में एक हजार अस्सी और चारों दिशाओं की सम्मिलित संख्या चार हजार तीन सौ बीस थी। उस चैत्यवृक्ष से आगे बढ़ने पर भीतरी भाग में एक दूसरा चाँदी का परकोट बना हुआ था। इस चाँदी के परकोट का निर्माण (बनावट) आकार, प्रकार और सजावट सभी कुछ प्रथम परकोट के ही समान थी; दरवाजे भी थे और उसी तरह के रत्नतोरण, नवनिधियाँ, सम्पूर्ण मंगलद्रव्य एवं मार्ग के दोनों ओर धूप से भरे हुये दो घड़े रखे हुये थे, जो स्वयं अपनी सुरभि से वायु-मण्डल को अपने वश में कर रहे थे। नाट्यशालाओं की विभूतियाँ भी पूर्ववत् ही थीं। नृत्य, गान, वाद्य सभी एक जैसे थे। इसके बाद कुछ और आगे बढ़ने पर उसी मार्ग में कल्पवृक्ष दृष्टिगोचर हो रहे थे। वे विविध रत्नों की जगमगाहट से अत्यन्त शोभायमान दीख पड़ते थे। कल्पवृक्ष की उत्तम-उत्तम विपुल विभूतियाँ किसी महान् राजा की विभूतियों से कम न थीं। माला, वस्त्र, रत्न, आभूषण, दिव्य फल, पुष्प एवं शीतल छाया इत्यादि दुर्लभ विभूतियों से वह युक्त था। वे दस प्रकार के थे। इन दस विविध कल्पवृक्षों को देख कर यह सहज ही में जाना जा सकता था कि स्वयं देवकुरु, उत्तरकुरु, भोगभूमि ही इन कल्पपृक्षों को साथ लेकर, श्री जिनेन्द्र प्रभु की सेवा करने के लिये प्रस्तुत हों। कल्पवृक्ष के फल आभूषणों की तरह दीख पड़ते थे, पत्ते वस्त्र के समान थे और शाखाओं (डालों) से लटकती हुई सुन्दर मालाएँ वटवृक्ष की जटाओं के समान जान पड़ती थीं। उनमें से 'ज्योतिरांग' कल्पवृक्ष के नीचे 'ज्योतिष्क' जाति के देव रहते थे, 'दीपांग' कल्पवृक्ष के नीचे 'कल्पवासी' देव और 'मालांग' कल्पवृक्ष के नीचे भवनवासी इंद्र स्वयं रहते थे। कल्पवृक्ष-वन के बीच में अति रम्य सिद्धार्थ-वृक्ष थे और उनके मूल में छत्र-चामरादि से अलंकृत प्रभु की प्रतिमाएं थीं। पूर्वकथित चैत्यवृक्ष के समान ही इनकी भी स्थिति की भिन्नता केवल इतनी ही थी कि वे कल्पवृक्ष अपनी इच्छानुसार अभीष्ट फल को देनेवाले थे। इस कल्पवृक्ष-वन को चारों ओर से घेरे हुये बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई स्वर्ण वेदिका बनी हुई

थी और वह ज्योतियों से जगमगा रही थीं।

उसमें चाँदी के बने हुये चार दरवाजे थे। उनके शिखरों पर मोतियों की मालाएँ गूंथीं हुई थीं एवं घण्टियाँ लटक रहीं थीं; गान, वाद्य, एवं नृत्य हो रहा था; पुष्पमाला इत्यादि मंगल की आठ वस्तुयें धरी हुई थीं; प्रकाशमान रत्नों के द्वारा बनाये गये तोरण लटक रहे थे। इन दरवाजों के बाद राज-पथ पर स्वर्ण-स्तम्भ के आगे अनेक प्रकार की ध्वजाएँ लटक रहीं थीं और एक अद्भुत छटा को बिखेर रहीं थीं। रत्न-जटित पीठासन पर खड़े किये गये उन स्तम्भों को देख कर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे खड़े हो कर सम्पूर्ण भव्य जीवों को—'प्रभु ने कर्म-शत्रुओं को अनायास ही जीत लिया है'—इस बात को सुनाने का प्रयत्न कर रहे हों। उन खम्भों की गोलाई अट्ठासी अंगुल की थी। पच्चीस धनुष [पचास गज] की दूरी थी। इस प्रकार का वर्णन गणधर देव ने किया। मानस्तम्भ, सिद्धार्थ चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण सहित प्राकार एवं वन-वेदिकाओं की ऊंचाई तीर्थङ्कर की ऊंचाई से बारह गुणी अधिक थी। बुद्धिमान पुरुषों को इसी के अनुकूल लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान कर लेना चाहिये। पूर्वोक्त वन-श्रेणी, राज-प्रासाद एवं पर्वतों की ऊंचाई को भी इसी के अनुपात से समझना होगा—इस प्रकार द्वादशांग के पढ़नेवाले गणधर देव ने कहा। पर्वत अपनी ऊंचाई से अठगुने चौड़े और स्तूप अपनी ऊंचाई से कुछ अधिक मोटे हैं। तत्त्ववेत्ता देवताओं के द्वारा पूजित गणधर देव ने वेदिका इत्यादि की चौड़ाई, ऊंचाई की अपेक्षा चौथाई कही है। उन वनों के बीच-बीच में कहीं पर जल-भरी बहती हुई नदियाँ, कहीं बावड़ी, कहीं रेतीला जमीन और कहीं विशाल सभा-मण्डप बने हुये थे। वन के विशाल राज-मार्ग पर ऊंची स्वर्णवेदिका बनी हुई थी, उसमें सुन्दर-सुन्दर चार दरवाजे बने हुये थे। इनमें भी रत्न-तोरण, आठ मंगल द्रव्य एवं आभूषण आदि वैभव तथा नृत्य, वाद्य एवं गीत इत्यादि पूर्व-कथित द्वारों के जैसे ही विद्यमान थे। इन सबके बाद एक अत्यन्त विशद गली थी, जिसे चतुर देव शिल्पियों ने बनाया था। इस गली के दोनों बगल

में गृह पंक्तियाँ बनी हुई थीं। इन भवनों में हीरक-जटित स्वर्ण-स्तम्भ थे और चन्द्रकान्त मणि की बनी हुई दीवार थी। बीच-बीच में अनेक बहुमूल्य महारत्न जड़े हुये थे; इसलिये उनकी शोभा अत्यन्त विचित्र थी। उनकी जगमगाहट को देख कर आँखें चौंधिया जाती थीं। उन दुमंजिले, तिमंजिले एवं चौमंजिले दिव्य प्रासादों पर वाह्य-दृश्यों को देखने के लिये अट्टालिकायें [अटारियाँ] बनी हुई थीं। सम्पूर्ण सुख-सामग्रियाँ उन भव्य-भवनों में रखी हुई थीं, अतः अनेकों देव, गन्धर्वों के साथ कल्पवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, विद्याधर, भवनवासी एवं किन्नरवृन्द प्रतिदिन उन महलों में क्रीड़ा करते रहते थे। उन लोगों में से कोई तो श्री जिनेन्द्र प्रभु के गुण-गौरव को गाते, कोई उल्लासपूर्ण नृत्य करते और कोई विविध वाद्यों को बजा कर भगवान की सेवा में तत्पर रहते थे। धार्मिक विषयों की चर्चा भी वहां अहर्निश होती ही रहती थी।

विशाल राजपथ के मध्य में पद्मराग मणियों से बनाये हुये नौ रत्न-स्तम्भ खड़े थे और उनमें अर्हन्त एवं सिद्ध भगवान की सुन्दर प्रतिमायें विराजमान थीं। साथ ही उनमें विविध रत्नों की वन्दनवार बंधी हुई थीं और उनके विविध वर्ण के प्रकाश से आकाश हरे, पीले, लाल, नीले आदि अनेक रंगों से रंगा हुआ-सा दीख पड़ता था, जिसे देख कर लोगों को इन्द्र धनुष की भ्रांति हो जाती थी। वे रत्न स्तम्भ पूजा द्रव्यों से और छत्र ध्वजादि मांगलिक वस्तुओं से सुशोभित थे। इनका महत्व धर्ममूर्ति के समान था। वहां पर अनेक भव्य-जीव एकत्रित होते और उन प्रतिमाओं का प्रक्षालन, पूजा, प्रदक्षिणा एवं स्तुति किया करते थे। इस प्रकार सभी लोग उत्तम धर्मोपार्जन के कार्य में दत्तचित्त रहते थे। इसके बाद कुछ और भीतर जाने पर स्वच्छ स्फटिकमणि का बना हुआ परकोटा था, जो अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था। उस परकोटे के सब द्वार पद्मराग मणियों से बनाये हुये थे और भव्य-जीवों के एकत्रित अनुराग की तरह आकर्षक थे। इन द्वारों पर भी पूर्ववत तोरण, आभूषण, नौ निधियाँ थीं तथा गान-वाद्य-नृत्य हो रहे थे

और चमर, बीजना, दर्पण, ध्वजा, छत्र, झारी एवं कलश इत्यादि आठों मंगलद्रव्य प्रत्येक द्वार पर रखे हुए थे। उन परकोटों के दरवाजों पर क्रमशः व्यन्तर, भवनवासी एवं कल्पवासी देव गदा एवं कृपाण आदि आयुधों से सुसज्जित हो कर पहरा दिया करते थे। उस स्फटिक-मणिवाले परकोटे से लेकर प्रथम पीठ पर्यन्त लम्बी सोलह दीवारें बनी हुई थीं। उस स्फटिकमणि-निर्मित परकोटे के ऊपर रत्न-स्तूपों के सहारे स्फटिक-मणियों का ही श्रीमण्डप बना हुआ था। वह यथार्थतः श्री (सम्पतियों) का ही मण्डप था। वहां पर जगत् के लक्ष्मीपात्र सज्जन एकत्रित हुआ करते थे। उनकी भीड़ से वह मण्डप सदैव ठसाठस भरा हुआ रहता था। जिस प्रकार अर्हन्त प्रभु की वाणी से धर्म की उपलब्धि होती है, उसी तरह वहां पर आ कर धर्म-चर्चा के निर्णयरूपी धर्म-साधना के अनुष्ठान से सब मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर लेते थे। उस श्रीमण्डप के बीच में बैडूर्यमणि के द्वारा बनायी प्रथम पीठिका थी, वह ऊंची थी और उसके प्रकाश से दिशायें आलोकित हो रही थीं। पीठिका पर सोलह स्थानों में समान अन्तर दे दे कर सोलह सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। सभा-प्रकोष्ठ के प्रत्येक के बारह द्वार थे और चार पीठिका चारों दिशाओं में विशाल रूप में बनी हुई थीं। प्रथम पीठिका पर आठ प्रकार के मंगल द्रव्य रखे गये थे। प्रथम पीठिका के ऊपर सुवर्ण निर्मित द्वितीयपीठ रखा हुआ था, जो अपनी दीप्ति से सूर्य एवं चन्द्रमा के प्रकाश को भी तिरस्कृत कर रहा था। उस द्वितीय स्वर्णपीठ के ऊपरी हिस्से में चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ एवं माला के चिह्नवाली आठ ध्वजायें थीं, जो पुरुषों के आठ गुणों के समान जान पड़ती थीं। उसी पीठ पर एक तीसरा रत्नपीठ रखा हुआ था, जो बहुमूल्य रत्नों के द्वारा बनाया गया था। इसी तृतीय रत्नपीठ से विचित्र प्रकार की किरणें निकल रही थीं और सारा अन्धकार दूर हो गया था। वह रत्नपीठ प्रखर किरणों से एवं अपनी मांगलिक सम्पत्तियों से स्वर्गलोक के वैभवमय प्रकाश को तुच्छ समझ कर मुसकुराता-सा जान पड़ता था। इसी तृतीय रत्नपीठ के ऊपर उत्तम गन्धकुटी बनी हुई थी

और वह एक तेजोमयी मूर्ति-सी जान पड़ती थी। वह अनेक प्रकार के दिव्य गन्ध, महाधूप, सुरभित पुष्पमाला एवं अनवरत पुष्प-वृष्टि से सम्पूर्ण दिशाओं के वायुमण्डल को सुगंधित करते रहने के कारण यथार्थ में ही 'गन्धकुटी' हो रही थी। उस गन्धकुटी का निर्माण, दिव्य आभूषण, मोतियों की माला, सुवर्ण की पातियाँ एवं निविड़ अन्धकार को दूर कर देनेवाले प्रकाशमान महारत्नों के द्वारा, कुबेर ने किया था। इसका वास्तविक वर्णन श्री गणधर देव के अतिरिक्त अन्य कोई बुद्धिशाली नहीं कर सकता। इसी गन्धकुटी के मध्य भाग में बहुमूल्य एवं ज्योतिपूर्ण महारत्नों के द्वारा एक अलौकिक स्वर्ण-सिंहासन का निर्माण किया गया था। प्रचण्ड मार्तण्ड की प्रखर किरणें भी उस स्वर्ण-सिंहासन के प्रकाश के सामने फीकी-सी जान पड़ती थीं। कोटि सूर्य के समान प्रभावशाली, तीनों लोक के भव्यों से घिरे हुये, श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु ने उस सिंहासन को सुशोभित किया। परन्तु भगवान की महिमा अपार है। वे अपनी ही महिमा के कारण स्वर्ण-सिंहासन से चार अंगुल ऊपर निराधार अन्तरीक्ष में ही अवस्थित रहे। वे सम्पूर्ण भव्यों के उद्धार करने में समर्थ थे। देव-निर्मित बाह्य विभूतियों से युक्त, जगत-आदरणीय श्री महावीर प्रभु को सब भव्य जीवों ने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। वे प्रभु संसार के मुकुटमणि हैं; अनुपम, असंख्य एवं उत्तम गुणों से युक्त हैं और केवलज्ञानरूपी महासम्पत्ति से विभूषित हैं। उन श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु के चरणारविन्दों को मैं आदरपूर्वक नमस्कार करता हूं। प्रभु तीनों लोक के जीवों का उद्धार करने में समर्थ हैं, अत्यन्त प्रतिभाशाली हैं, कर्मरूपी महाशत्रुओं के नाशकर्ता हैं, बारह सभाओं में बैठ कर धर्मोपदेश में प्रयत्नशील रहते हैं, अकारण बन्धु हैं, अनन्त चतुष्टय से युक्त हैं। उनकी अतुलनीय गुण-सम्पत्तियों को पाने के लिये, उन प्रभु को मैं नमस्कार करता हूं। वे अत्यन्त विशिष्ट गुणों की खानि हैं, केवलज्ञानरूपी दिव्य दृष्टिवाले हैं, त्रिलोक के स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र एवं चक्रवर्तियों के द्वारा सेव्य हैं; सब के कल्याण करनेवाले अद्वितीय बन्धु हैं,

सम्पूर्ण दोषों से हीन हैं, धर्म-तीर्थ के प्रवर्त्तक हैं। उपर्युक्त महागुणों से युक्त श्री महावीर प्रभु की भक्तिपूर्वक स्तुति मैं मोक्ष-गुणों की प्राप्ति के लिये करता हूं।

पञ्चदश प्रकरण

"श्रीमते केवलज्ञान-सामाज्य-पद-शालिने। नमोव्रताय भव्योधे धर्म-तीर्थ प्रवर्तिने ॥ १ ॥"

अर्थात् जो केवलज्ञानरूपी साम्राज्य को पा कर शोभायमान हैं और भव्य-जीवों के समूह से घिरे हुये हैं, उन धर्म-तीर्थ-प्रवर्त्तक एवं श्रीसम्पन्न महावीर अर्हन्त को नमस्कार है।

जिस प्रकार मेघ जलवृष्टि किया करते हैं, उसी प्रकार उस समय देवसमूह जिनेन्द्र के चारों ओर पुष्पवृष्टि कर रहे थे। आकाश से गिरते हुये फूलों की मनमोहक सुगन्ध पर भौंरे आकृष्ट हो कर गुञ्जार कर रहे थे, मानो जगत् स्वामी श्री जिनेन्द्र प्रभु के यशों को मधुर स्वर में गा रहे हों। भगवान के पास ही शोकों को दूर करनेवाला यथार्थनामा एक सुन्दर एवं अत्यन्त ऊँचा अशोकवृक्ष था। उस अशोकवृक्ष के फूल रत्नों के जैसे विचित्र वर्ण के और अत्यन्त मनोहर थे। वायुवेग से प्रकम्पित एवं चञ्चल शाखाओं में हिलते हुये मरकत मणियों के हरे पत्ते बहुत रमणीक मालूम हो रहे थे। उनके हिलने से ऐसा जान पड़ता था, मानो वे भव्य जीवों को भगवान के पास बुला रहे हों। महावीर स्वामी के मस्तक पर तीन श्वेत छत्र तने हुये थे। मानो प्रभु ने तीनों लोकों के आधिपत्य को पा लिया है, इस बात की सूचना दे रहे हों। उन छत्रों के चारो ओर चमकीले मोती लटक रहे थे। उनसे उज्ज्वल प्रकाश छिटक रहा था और छत्र-दण्ड में भी अनेक बहुमूल्य रत्न जड़े हुये थे। रत्नोंसे युक्त छत्र की शोभा इतनी विशेष थी कि उसके सामने चन्द्रमा की किरणें भी फीकी-सी जान पड़ती थी। क्षीर-समुद्र के उज्ज्वल जल के सदृश श्वेत चौंसठ चमरों को हाथ में लेकर यक्ष लोग डुला रहे थे। वे बाह्य एवं आभ्यन्तर शोभा से युक्त हो कर अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ते थे और मुक्ति-स्वरूपी स्त्री के अनन्यतम वर जान पड़ते थे। इसी समय मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले साढ़े बारह करोड़ प्रकार के बाजों को देवों ने

जोर से बजाना आरम्भ किया। उन वाद्यों का तुमुल रव इस बात को सूचित करता था; मानो कर्मरूपी महाशत्रुओं को ललकारते हुए अपने नाना प्रकार के शब्दों से, भव्यों के सामने जिनोत्सव को प्रकट कर रहा हो। अत्यन्त उज्ज्वल और दिव्य औदारिक शरीर से निकलता हुआ दैदीप्यमान प्रभा-पुञ्ज करोड़ों सूर्य की रश्मि-राशि से भी अधिक प्रखर था। वह प्रकाश मण्डल सब पापियों के नेत्रों को प्रिय था और उज्ज्वल यश का एक समष्टिभूत रूप था। वह सम्पूर्ण बाधाओं की दूरी करनेवाला और तेज का अक्षय कोष था। जिनेन्द्र श्री महावीर स्वामी के मुख से नित्यशः जो दिव्य-ध्वनि निकला करती थी, वह सब का कल्याण एवं हित करनेवाली होती थी; वह अलौकिक वाणी तत्त्व-स्वरूप एवं धर्म-स्वरूप को विशद प्रकार से बतानेवाली थी। जिस प्रकार मेघों द्वारा बरसाया हुआ जल पहले एक ही रूप रहता है और फिर पात्र-भेद से नाना नाम, रूप एवं रंग में बदल जाता है, उसी तरह प्रभु की दिव्य-ध्वनि भी प्रथम तो 'अनक्षरी' एक-रूप ही निकलती है और बाद में विभिन्न देशों में उत्पन्न मनुष्य, देव एवं पशुओं की अक्षरमयी विभिन्न भाषा में रूपान्तरित हो कर सन्देहों को दूर कर देनेवाले धर्म का उपदेश करनेवाली हो जाती है।

रत्नमयी त्रिपीठ के ऊपर सिंहासनारूढ़ श्री महावीर प्रभु धर्मराज के समान जान पड़ते थे। वे महान एवं अलौकिक आठ प्रातिहार्यों से अलंकृत होकर सभा-मण्डप में विराजमान थे और उनकी अतुलनीय शोभा अवर्णनीय थी। श्री महावीर प्रभु की पूर्व दिशा से लेकर सभा-मण्डप के प्रथम कोष्ठ पर्यन्त अनेक गणधर एवं मुनीश्वर क्रमबद्ध हो कर बैठे हुए थे। दूसरे प्रकोष्ठ में कल्पवासिनी इन्द्राणी इत्यादि देवियाँ बैठी हुई थीं। तीसरे प्रकोष्ठ में अर्जिकायें एवं श्राविकायें थीं। चौथे में ज्योतिषी देवों की देवियाँ बैठी हुई थीं। पाँचवें में व्यन्तरों की देवियाँ, छट्ठे मे भवनवासियों की पद्मावती इत्यादि देवियाँ, सातवें में भरत निवासी धरणेन्द्र इत्यादि देव, आठवें में इन्द्रों से युक्त व्यन्तर देव, नवें में इन्द्रों से युक्त चन्द्र-सूर्य इत्यादि ज्योतिषी देव, दशवें में कल्पनिवासी देव, ग्यारहवें में विद्याधर एवं

मनुष्य इत्यादि और बारहवें प्रकोष्ठ में सिंह-हिरण इत्यादि तिर्यञ्च बैठे थे। इस प्रकार बारहों सभा-मण्डप के प्रकोष्ठों में जीव-समूह श्रेणीवद्ध होकर पृथक्-पृथक् त्रिलोकीनाथ महावीर प्रभु के सामने हाथ जोड़े हुए, विनम्र भाव से प्रभु के उपदेशरूपी अमृत को पी कर पापाग्नि के सन्ताप को शान्त करने की इच्छा से बैठे हुए थे। सभा-मण्डप में उन सम्पूर्ण जीव-समूहों से घिरे हुये जगत्पति श्री महावीर प्रभु धर्मात्माओं के बीच में साक्षात् धर्म-मूर्ति के समान विराजमान थे और उनके अलौकिक आकर्षण से सभी लोग प्रभावित थे।

इसके बाद देवों से युक्त इन्द्र धर्मरूपी उत्तम रस-प्राप्ति की इच्छा से अत्यन्त विनम्र रूप से 'जय-जयकार' करने लगे और प्रभु के सभा-मण्डप की तीन बार प्रदक्षिणा कर के श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उन जगद्गुरु भगवान के दर्शन की इच्छा से सभा-मण्डप में प्रविष्ट हुये। वह समवशरण-भूमि भव्य जीवों के लिये शरण-स्वरूप थी। वहां पर पहुंच जाने के बाद इन्द्रादि देवों ने मानस्तम्भ, महान् चैत्यवृक्ष एवं अन्य स्तूपों में प्रतिविम्बित जिनेन्द्र और अनेक श्रेष्ठ सिद्ध पुरुषों की मूर्तियों का पूजन पवित्र प्रासुक जल आदि पूज्य-द्रव्यों से भक्तिपूर्वक किया। देवों के द्वारा अत्यन्त उत्तमता-पूर्वक रची गई समवशरण-रचना को देख कर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुये और देवों के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट हुये। उस ऐश्वर्यशाली सभा-मण्डप में उत्तम स्थान पर रखे हुये श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान कोटि-कोटि गुणों से युक्त एवं परम तेजस्वी चतुर्मुख श्री महावीर प्रभु को इन्द्र ने निर्निमेष नेत्रों से देखा। तदनन्तर देवताओं के साथ इन्द्र ने श्रद्धापूर्वक घुटनों को टेक कर कर्म-विनाश के लिये प्रभु को नमस्कार किया। साथ ही अनेक अप्सराओं के सहित इन्द्राणी आदि देवियों ने भी प्रसन्नतापूर्वक त्रिलोकपति श्री महावीर प्रभु को नमस्कार किया। जब देवों के साथ इन्द्रादि ने प्रभु को प्रणाम किया, तब उनके मुकुट की मणियों की प्रभा प्रभु के चरण-कमलों पर पड़ी और इस विचित्र आभा के स्पर्श से उनके चरण अत्यन्त शोभायमान हुये। प्रभु के गुणों पर अनुरक्त हो कर इन्द्रादि देव अनेक उत्तम एवं अलौकिक पूजा-द्रव्यों

से प्रभु की पूजा करने के लिये प्रस्तुत हुये। एक दैदीप्यमान स्वर्ण-कलश के मुख से निर्मल जल-धारा को प्रभु के पवित्र चरणों पर गिराने लगे और इस तरह वे अपने पापों की शुद्धि करने में प्रवृत्त हुये। पाद-प्रक्षालन कर चुकने के बाद इन्द्र ने उत्कट भक्ति के वशीभूत हो कर घिसे हुये स्वर्गीय सुगन्धयुक्त चन्दन से भगवान के दिव्य सिंहासन के अग्रभाग का, भोग एवं मोक्ष प्राप्ति के निमित्त, पूजन किया। आकाश-मण्डल को अपनी किरणों से श्वेत कर देनेवाले दिव्य मोतियों के पाँच अक्षत-पुञ्ज को अक्षय सुख की प्राप्ति-कामना से प्रभु के आगे चढ़ाया और कल्पवृक्ष से उत्पन्न स्वर्गीय पुष्पों को चढ़ा कर इन्द्र ने सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करनेवाली पूजा की। रत्ननिर्मित थाली में अमृत-पिण्ड से बनाये गये नैवेद्य पदार्थों को इन्द्र ने प्रभु के सन्मुख उपस्थित किया और अपने सुख एवं कल्याण की कामना की। उन्होंने अन्धकार को दूर कर देनेवाले रत्नमय दीपकों को भी ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से प्रभु के आगे रखा। कृष्ण, अगर आदि अनेक उत्तम सुगन्धित द्रव्यों से बनायी हुई धूपवर्त्तिका से इन्द्र ने धर्म-प्राप्ति के लिये प्रभु के चरण-कमलों की पूजा की। धूप के धूयें से दशों दिशायें सुरभित हो उठीं। इसके बाद कल्पवृक्ष आदि सुर तरुओं में उत्पन्न एवं नयनाभिराम उत्तम फलों के द्वारा इन्द्र ने फल-प्राप्ति की अभिलाषा से प्रभु की पूजा की और पूजा के अन्त में असंख्यात पुष्पों की पुष्पांजलि से प्रभु के चारों ओर पुष्प-वृष्टि की। इसी समय इन्द्राणी ने प्रभु के सन्मुख पञ्च-रत्नों के चूर्ण द्वारा अपने हाथों से उत्तम साथिया बनाया।

पूजा कर चुकने के बाद इन्द्र ने हाथ जोड़ कर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर स्वर में प्रभु के गुणों की स्तुति करना आरम्भ किया। देव! तुम सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हो। तुम्हीं गुरुओं के भी श्रेष्ठ गुरु हो, पूजनीयों के भी परम पूज्य हो एवं वन्दनीयों के वन्द्य हो! योगियों में सर्व-श्रेष्ठ योगी हो, गुणियों में उत्तम गुणवान् हो और सभी धर्मात्माओं में परमादरणीय धर्मात्मा हो। ध्यानियों में महाध्यानी, यतियों में बुद्धिमान् यति,

ज्ञानियों में महान् ज्ञानी और स्वामियों के भी स्वामी तुम्हीं हो। तुम जितेन्द्रिय हो। जिनों मे जिनोत्तम होने के कारण ध्येय एवं स्तुत्य तुम्हीं हो। दाताओं मे उत्तम दानी तुम्हीं हो और हितेच्छुओं में परम हितैषी तुम्हीं हो। संसार के भय से त्रस्त पुरुषों के रक्षक, शरण-हीन जीवों के शरणदाता और सम्पूर्ण कर्म-जल के नाशक तुम्हीं हो। मोक्ष के पथ-प्रदर्शक, जगत् के कल्याणकर्त्ता और बान्धव-विहीन जीवों के अनन्यतम बन्धु तुम्हीं हो।

तीन लोक के उत्तम राज्य की इच्छा रखने के कारण महान् 'लोभी' एवं मुक्तिरूपिणी स्त्री की अभिलाषा करने के कारण अत्यन्त 'रागी' आप हैं, सम्यक् दर्शनादिक रत्नों का संग्रह आपने किया है, इसलिये आप 'महापरिग्रही' हैं; कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालने के कारण 'महाहिंसक' तथा कषाय एवं इन्द्रियों को जीत लेने के कारण आप महान् 'विजयी' हैं। आप शरीरादि के विषय में इच्छाहीन हो कर भी लोकाग्र शिखर को चाहनेवाले हैं, देवियों के मध्य में रह कर भी परम ब्रह्मचारी हैं और आप एकमुख हो कर भी अतिशय के कारण चार मुखवाले दिखलायी पड़ते हैं। इस लोक मे श्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होने पर भी आप 'निर्ग्रन्थराज' हैं और जगद्गुरु होने के कारण अनुपमेय गुणों के प्रधान आप ही हैं। हे देव! आज हमारा जीवन सफल हुआ और हम धन्य हुये। आपके दर्शनों के लिये हमें जो पद-यात्रा करनी पड़ी, इससे हमारे दोनों पैर कृतकृत्य हो गये। आपकी पूजा करने से हाथ और चरण-कमलों के दर्शन करने से हमारे नेत्र आज सफल हो गये।

प्रणाम करने के कारण हमारा मस्तक, सेवा करने के कारण हमारा शरीर एवं आप के गुणों के वर्णन करने के कारण हमारी वाणी सफल एवं पवित्र हो गयी। हे नाथ! आप के अनुपमेय गुणों के विचार करने के निमित्त हमारा मन भी निर्मल एवं पवित्र हो गया। हे प्रभो! जब आप के असंख्य गुणों की प्रशंसा गौतम आदि गणधर भी पूर्णरूपेण नहीं कर सकते, तब मुझ जैसा मूढ़मति भला, आप की स्तुति क्या कर सकता है? इसलिये मैं आप की स्तुति क्या करूँ? प्रभो, आप अनन्त गुणवाले हैं, सर्व-प्रधान हैं, जगद्गुरु हैं; आप को

कोटिशः प्रणाम है। आप परमात्म-स्वरूप हैं, लोकों में उत्तम हैं, केवलज्ञान महाराज्य से अलंकृत हैं, अनन्त दर्शन-स्वरूप हैं; अतः आप को बार-बार नमस्कार है। आप अनन्त सुखरूप हैं, अनन्त वीर्यरूप हैं और तीनों जगत् के भव्य जीवों के मित्र हैं, अतः आप को पुनः-पुनः नमस्कार है। आप लक्ष्मी से बढ़े हुये हैं, सब का मंगल करनेवाले हैं, अत्यन्त बुद्धिमान हैं, श्रेष्ठ योद्धा हैं, तीनों जगत् के स्वामी हैं और स्वामियों के भी परम श्रद्धेय स्वामी हैं, आप लोकातिशय सम्पत्ति से युक्त हैं, चमत्कारपूर्ण हैं, दिव्य देह एवं धर्मरूप हैं; आप को कोटि-कोटि नमस्कार है। आप धर्म-मूर्ति हैं, धर्मोपदेशक हैं, धर्मचक्र के प्रवर्त्तक हैं; अतएव हम आप को पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं। हे नाथ! इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक की गयी आप की स्तुति और नमस्कार से आप हम पर प्रसन्न हों और आप की समस्त गुणराशि हमें प्राप्त हो कर कर्म-शत्रुओं का नाश करें तथा साथ ही समाधि-मरण-रूपी श्रेष्ठ मृत्य को भी प्रदान करें।

इस प्रकार देवों के सहित इन्द्र, श्री महावीर प्रभु की स्तुति, नमस्कार एवं भक्तिपूर्वक इष्ट-प्रार्थना कर के धर्मोपदेश सुनने के लिये अपने-अपने प्रकोष्ठ में बैठ गये तथा अन्य भव्य लोग एवं देवियाँ भी कल्याण-कामना के उद्देश्य से (हित प्राप्ति के लिये) श्री जिनेन्द्र प्रभु के सामने बैठ गयीं।

जब इन्द्र ने देखा कि बारह प्रकार के जीव-समूह उत्तम धर्म सुनने की इच्छा से अपने-अपने प्रकोष्ठ में बैठे हुये हैं और तीन प्रकार का समय व्यतीत हो जाने पर भी अर्हन्त की ध्वनि नहीं निखर रही है; तब उसके मन में विचार आया कि ऐसा किस कारण से हो रहा है? ध्वनि निकलने में कौन-सी बाधा उपस्थित हो गयी? जान पड़ता है, अवधिज्ञान के प्रभाव से प्रभावित कोई भी मुनीश्वर गणधर-पद के उपयुक्त यहां नहीं है। इन्द्र पुनः सोचने लगा कि कैसी आश्चर्य की बात है कि इन बहुसंख्यक मुनीशों में कोई भी ऐसा सुयोग्य मुनीन्द्र नहीं है, जो प्रभु के मुख से बहिर्भूत रहस्यमय वाणी को सुन कर 'गणधर' हो जाय

और सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्र की रचना में कृतकार्य हो सके।

इसके बाद इन्द्र को ज्ञात हुआ कि इसी नगर में गौतम-कुल-भूषण 'गौतम' नाम का श्रेष्ठ ब्राह्मण है और वह गणधर होने के योग्य है। ऐसा विदित हो जाने पर वह सौधर्मेन्द्र परम प्रसन्न हुआ और उस द्विज श्रेष्ठ गौतम को सभा-मण्डप में लाने के लिये कोई उत्तम उपाय सोचने लगा। अन्त में इन्द्र ने मन में विचार किया कि वह गौतम तो विद्याभिमानी है। यदि ब्रह्मपुर में उसके पास जा कर गूढ़ अर्थवाले कुछ काव्य उससे पूछे जायें और जब उन गूढ़ श्लोकों का अर्थ उसे विदित नहीं होगा, तब निश्चय ही शास्त्रार्थ की इच्छा से वह स्वयं इस सभा में आ जायगा। ऐसा सोच कर बुद्धिमान इन्द्र ने वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाया और हाथ में ली लाठी के सहारे चलता हुआ गौतम ब्राह्मण के पास पहुंचा। ब्राह्मण-भेषी इन्द्र ने गौतम से कहा—'हे ब्राह्मण! तुम बहुत विद्वान जान पड़ते हो, तुम्हारे सदृश दूसरा कोई विद्वान यहां नहीं दिखाई पड़ता। मेरे गुरु श्री महावीर इस समय मौन धारण किये हुये हैं; इसलिये एक काव्य का अर्थ जानने के लिये मैं तुम्हारे पास आया हूं; विचार कर इसे मुझे बताओ। इस काव्य के वास्तविक अर्थ को समझ लेने से मेरी जीविका निर्वाह होगा, कितने ही भव्य-पुरुषों का उपकार होगा और आप भी यश के भाजन होंगे।' छद्मवेषी इन्द्र के वचन को सुन कर विद्वान ब्राह्मण गौतम ने कहा—'रे वृद्ध, यदि मैं तेरे काव्य का उचित अर्थ शीघ्र ही बता दूं, तो तू इसके बदले में क्या करेगा?' इस बात के उत्तर में इन्द्र ने कहा—'यदि मेरे काव्य की समुचित व्याख्या तुम कर दोगे, तो मैं विधिपूर्वक तुम्हारा शिष्यत्व (चेलापन) स्वीकार कर लूंगा और यदि तुम यथार्थ भाव नहीं बतला सके तो?' इन्द्र की बात सुन कर गौतम ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'हे वृद्ध पुरुष! मैं भी प्रतिज्ञा करता हूं कि तुम्हारे काव्य की यदि मैं उचित व्याख्या नहीं कर पाऊँगा, तो इस पांच सौ शिष्यों का मण्डली एवं अपने दोनों भाइयों के साथ मैं भी अपना जगत्प्रसिद्ध एवं वेद-प्रतिपादित सनातन मत को छोड़ कर, तुम्हारे गुरु का शिष्य बन जाऊँगा। मेरी

प्रतिज्ञा कभी असत्य और अन्यथा नहीं हो सकती। फिर मेरे वचन के दो साक्षी भी तो हैं। ये इस नगर के स्वामी हैं और यह कश्यप नाम का ब्राह्मण है।' गौतम की बात सुन कर उन दोनों ने कहा कि ठीक है कदाचित् मेरु पर्वत भी चलायमान हो सकता है, परन्तु इस विद्वान ब्राह्मण के वचन तुम्हारे श्री महावीर प्रभु की ही तरह अटल हैं। जब दोनों ही परस्पर वचनबद्ध हो चुके और अन्य प्रकार की समस्त बातें तय हो गयीं, तब इन्द्र ने गम्भीर स्वर में निम्नलिखित काव्य कहा—

"त्रैकाल्य द्रव्यषट्क सकल गतिगणा सत्पदार्था नवैवः। विश्व पञ्चास्ति कायाः व्रत समिति चिदः सप्ततत्वानि धर्माः।
सिद्धेर्मार्णः स्वरूप विधिजनित फल जीवषट्काय लेश्या। एतान् यः श्रद्धाति जिन वचन रतो मुक्तिगांभोरु भव्यः॥ १॥"

इन्द्र के कहे हुये उपरोक्त काव्य को सुन कर विद्वान गौतम आश्चर्यचकित हो गया। श्लोक का कुछ भी अर्थ उसकी समझ में नहीं आया। प्रतिज्ञा भंग की आशंका से वह अपने मन में ही तर्क-वितर्क करने लगा—यह काव्य तो बहुत ही कठिन है, कुछ समझ में ही नहीं आता। श्लोक में 'त्रैकाल्यं' शब्द है, तो तीन काल कौन-कौन से हो सकते हैं? इस त्रिकाल में उत्पन्न सभी वस्तुओं को जाने, वही सर्वज्ञ है और वही इस काव्य का अर्थज्ञाता भी है। मैं भला, क्या जानूं? 'द्रव्यषट्कं' में छः द्रव्य कौन-कौन से हैं? 'सकल गति गणा' ये सम्पूर्ण गतियाँ कौन-कौन-सी हैं? उनका स्वरूप क्या है? 'सत्पदार्था नवैवः' में उत्तम नव पदार्थ कौन-कौन से हैं? इसके पूर्व तो मैंने नव पदार्थों के विषय में कुछ भी नहीं सुना। 'विश्वं' में विश्व क्या? यह सब विश्व ही तो है? या तीनों लोक विश्व है? कुछ निश्चय नहीं हैं। 'पञ्चस्ति कायाः' में पांच अस्तिकाय क्या हैं? 'व्रत समिति चिदः' में व्रत क्या हैं? समिति किसे कहते हैं? ज्ञान का क्या स्वरूप है? इन सब का फल क्या है और 'सप्त तत्वानि' सात तत्व कौन-कौन से हैं, 'धर्माः' में धर्म क्या है, 'सिद्धेर्मार्गः' में सिद्धि अथवा कार्य-निष्पति क्या है, उसका मार्ग क्या है, एक है अथवा अनेक मार्ग हैं, 'स्वरूपं' में स्वरूप क्या है, 'विधिजनित फलं' में विधि क्या है, उससे उत्पन्न फल क्या है, 'जीव षट्काय

लेश्या' में छः प्रकार के जीवनिकाय कौन-कौन से हैं, छः लेश्या क्या हैं? इन सब बातों को तो मैंने कभी नहीं सुना। फिर इन सब का लक्षण एवं स्वरूप मैं क्या जानूं? ये बातें तो हमारे वेद एवं स्मृति-ग्रन्थों में कहीं नहीं हैं। उफ्! इस छोटे से काव्य में तो सब सिद्धान्त ही भरे पड़े हैं। यह वृद्ध तो सिद्धान्त-समुद्र का सारा रहस्य ही हम से काव्य के बहाने पूछ रहा है। अब मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि इस छोटे से काव्य का गूढ़ार्थ, उस सर्वज्ञ एवं उसके सुयोग्य शिष्य के सिवा दूसरा कोई कदापि नहीं कह सकता है। यदि मैं इस वृद्ध को अर्थ नहीं बताता, तो प्रतिष्ठा घटती है। इसलिये उसने कोई बहाना बना कर उसे टालना चाहा। ऐसा सोच कर गौतम ब्राह्मण ने इन्द्र से कहा—मैं इस विषय में तुम से विवाद न कर तुम्हारे गुरु से ही शास्त्रार्थ करूँगा। ऐसा कह कर 'काललब्धि' (उत्तम भवितव्यता) के वशीभूत हो कर गौतम विप्र अपने पांच सौ शिष्यों एवं दोनों भाइयों के साथ श्री महावीर प्रभु से शास्त्रार्थ करने के लिये सभा-मण्डप में जाने के लिये घर से निकल पड़ा।

वह बुद्धिमान गौतम ब्राह्मण मार्ग में जाता हुआ सोच रहा था कि जब यह वृद्ध ब्राह्मण ही दुर्जेय है, तब इसका गुरु तो इससे भी अधिक असाध्य होगा। कुछ भी हो, अब तो चलना ही चाहिये। उस महापुरुष के संसर्ग से भला ही होगा, हानि क्या होगी? ऐसा विचारता हुआ वह क्रमशः चलता हुआ संसार को आश्चर्यचकित कर देनेवाले अति उन्नत मानस्तम्भ के समीप पहुंचा। उस मानस्तम्भ के दर्शन से ही गौतम की मानलिप्सा इस तरह नष्ट हो गयी, जिस तरह वज्रपात से पर्वत-श्रेणियाँ शतधा विभक्त हो कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। उसके मृदु-परिणाम का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद उस गौतम ब्राह्मण ने अति विशुद्ध परिणामों से युक्त हो कर सभा-मण्डप की विपुल विभूतियों को देखा और आश्चर्य-चकित हो कर वह उस अलौकिक सभा-मण्डप में प्रविष्ट हुआ। जब सभा-मण्डप में प्रविष्ट हो कर उस विप्र ने प्रभु को अनेक ऋद्धियों एवं जीव-समूहों से घिरे हुए रत्न-सिंहासन पर

बैठे हुए देखा, तब वह अनुराग से अभिभूत हो गया और भक्तिपूर्वक जगद्गुरु महावीर प्रभु की तीन प्रदक्षिणा दे कर उन्हें नमस्कार किया। फिर अञ्जलिबद्ध हो कर अपनी सिद्धि के लिये प्रभु के सार्थक नामों से उनकी स्तुति करने लगा—"हे भगवन्! तुम जगत् के स्वामी हो, एक हजार आठ नामों से अलंकृत होने पर भी नामरूपी कर्म के नाशक हो। सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञाता, बुद्धिमान पुरुष यदि विशुद्ध अन्तःकरण हो कर आप के एक ही नाम से आप की स्तुति करता है, तो वह भी आप के ही समान गुणों से युक्त हो कर शीघ्र ही आप के सम्पूर्ण सुनामों को और उनके सुफलों को पा सकता है। इसलिये हे प्रभो! मैं आप के एक सौ आठ सुन्दर नामों से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आप की स्तुति करता हूं।"

"हे भगवन्! आप धर्मराजा, धर्मचक्री, धर्मा, धर्माग्रणी, धर्मतीर्थ-प्रवर्तक, धर्मनेता और धर्मेश्वर हैं तथा धर्मकर्ता, सुधर्माढ्य, धर्मस्वामी, सुधर्मवित्, धर्माराध्य, धर्मीश, धर्माढ्य, धर्मबन्धव, धर्मि-ज्येष्ठ, अतिधर्मात्मा, धर्मभर्ता, सुधर्मभाक्, धर्मभागी, सुधर्मज्ञ, धर्मराज, अतिधर्मधीर महाधर्मी, महादेव, महानाद, महेश्वर, महातेजा महामान्य, महापूत, महातपा, महात्मा, महोदान्त, महायोगी, महाव्रती और महाध्यानी हैं एवं महाज्ञानी, महाकासविक, महान्, महाधीर, महावीर, महार्चाढ्य, महेशिता, महादाता, महात्राता, महाकर्मा, महाधीर, जगन्नाथ, जगद्भर्ता, जगत्पति, जगज्ज्येष्ठ, जगन्मान्य, जगत्सेव्य, जगन्नुत, जगत्पूज्य जगत्स्वामी जगदीश, जगद्गुरु, जगद्बन्धु, जगज्जेता, जगन्नेता, जगत्प्रभु, तीर्थकृत, तीर्थभूतात्मा, तीर्थनाथ, सुतीर्थवित्, तीर्थङ्कर, सुतीर्थात्मा, तीर्थेश, तीर्थकारक, तीर्थनेता, सुतीर्थज्ञ, तीर्थार्ह्य, तीर्थनायक, तीर्थराज, सुतर्थाङ्क, तीर्थभूत, तीर्थकारण, विश्वज्ञ, विश्वतत्वज्ञ, विश्वव्यापी, विश्ववित्, विश्वाराध्य, विश्वेश, विश्वलोकपितामह, विश्वाग्रणी, विश्वात्मा, विश्वार्थ्य, विश्वनायक, विश्वनाथ, विश्वेड्य, विश्वधृत, विश्वधर्मकृत, सर्वज्ञ, सर्वलोकज्ञ, सर्वदर्शी, सर्ववित्, सर्वात्मा, सर्वधर्मेश, सार्व, सर्वबुधाग्रणी, सर्वदेवाधिप, सर्वलोकेश, सर्वकर्महृत्, सर्वविद्येश्वर, सर्वधर्मकृत्,

सर्वशर्मभाक् आप ही हैं।"

"हे त्रिजगत्पति! पूर्वोक्त इन अष्टोत्तरशत (१०८) नामों से मैंने आप की स्तुति की। आप हमारे ऊपर दया करें और हमें अपने समान बनावें। हे देव! तीनों लोक में स्वर्ण एवं रत्नों की जितनी कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ आप की हैं, उन सब की सदैव मैं स्तुति, पूजा एवं स्मरण किया करता हूं। हे प्रभो! जो प्राणी भक्तिपूर्वक आप की पूजा, स्तुति एवं आप को नमस्कार किया करते हैं, वे त्रिलोकी के स्वामी हो जाते हैं। जो कि साक्षात्-मूर्ति आप की ही स्तुति एवं नमस्कार और अहर्निश सेवा किया करते हैं, उन भव्य श्रेष्ठों को कितना अधिक फल मिलता होगा, उसकी मर्यादा मैं नहीं बता सकता। हे नाथ! इस लोक में जितने भी श्रेष्ठ एवं स्निग्ध परमाणु-पुञ्ज हैं, उन सब को एकत्र कर के ही आप के अलौकिक सुन्दर शरीर का निर्माण हुआ है। आप का यह उत्तम शरीर सम्पूर्ण जगत् को अत्यन्त प्रिय है और कोटि सूर्य के बराबर तेज-पुञ्ज के प्रकाश से सकल दिशाओं को आलोकित किया करता है। यह आप का दैदीप्यमान मुख-मण्डल निर्विकार एवं साम्यसूचक हो कर मन की अत्यन्त आन्तरिक विशुद्धि को बतला रहा है। हे जगद्गुरो! इस पृथ्वी के जिस-जिस स्थान पर आप ने अपना चरणारविन्द स्थापित किया है, वे सब स्थान संसार के पवित्र तीर्थ-स्थान हो गये हैं और सदैव उस स्थान की वन्दना मुनि-देव लोग किया करते हैं। इसी तरह, हे नाथ! जिन क्षेत्रों में आप के जन्म-कल्याणकोत्सव मनाये गये हैं, वे सब अति पवित्र एवं श्रद्धास्पद तीर्थ-स्थान हो गये हैं। वे देश और काल धन्य हैं, जिनमें आपका गर्भादि कल्याणक एवं केवलज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। आप का यह केवलज्ञान सम्पूर्ण संसार के लिये अज्ञेय एवं अव्यापक है। इसलिये आकाश मात्र ही में व्याप्त हो कर वह स्थित है। इसलिये संसार के भव्यों के द्वारा आप सर्वज्ञ एवं संसार के सम्पूर्ण रहस्यों को जाननेवाले तथा इस अनन्त विश्व के स्वामी माने गये हैं। हे स्वामिन्! आप का केवलज्ञान अनन्त है और आप जगत्वन्द्य हैं। हे प्रभो! आप का अनन्त वीर्य

सकल दोषों से वर्जित है। सारे पदार्थों के दर्शन होने पर भी यह अनुपम बना हुआ है। देव! आप का अक्षय एवं परमोत्तम सुख 'निर्वाण' है। वह इन्द्रियातीत एवं अनुपमेय होने के कारण सांसारिक जीवों के लिये अनुभव गम्य नहीं हो सका। हे महावीर प्रभु! आप के ये चारों अनन्त गुण अनन्य एवं असाधारण हैं; केवल मात्र आप में ही ये गुण हैं। यद्यपि आप कामना-शून्य हैं; तथापि संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में श्रेष्ठ प्रातिहार्यादि आठ सम्पदाएँ आप के पास अतिशय शोभा-सम्पन्न हो कर विराज रही हैं। इनके अतिरिक्त आप के और भी अन्य असंख्य गुण तीनों लोकों में अद्वितीय हैं; फिर हमारे जैसे मूढ़मति एवं स्वल्पज्ञानी आप के उन अनुपम गुणों की प्रशंसा किस प्रकार सफलतापूर्वक कर सकते हैं? हे प्रभो! जैसे कि मेघों की जलधारा की, आकाश के तारामण्डल की, समुद्र के तरङ्गों की एवं सांसारिक जीवों की गणना कदापि नहीं की जा सकती है, वैसे ही आप के गुण भी असंख्य एवं अनन्त हैं; इसलिये आप की स्तुति मैं किस प्रकार कर सकता हूं? आप के गुणों की यथास्थिति को तो गणधर भी नहीं जान पाते; फिर दूसरों को वे क्या बतला पायेंगे? आप की यथार्थ स्तुति तो हमसे होगी नहीं, फिर व्यर्थ प्रयास से क्या लाभ? हे देव! आप को नमस्कार है। प्रभो! आप दिव्यमूर्ति हैं। सर्वज्ञ हैं और अनन्त गुणस्वरूप हैं; आप को बार-बार नमस्कार है। आप दोषहीन, परम-बन्धु मङ्गल-स्वरूप, लोकोत्तम, जगत्-शरण एवं मन्त्रमूर्ति हैं; आप को कोटिशः प्रणाम है। आप वर्द्धमान स्वरूप हैं, आप को नमस्कार है। आप महावीर हैं, सन्मति हैं, विश्व के हितस्वरूप हैं, तीनों जगत के गुरु हैं, अनन्त सुख के समुद्र हैं; इसलिये आप को असंख्य बार नमस्कार है। इस प्रकार परम भक्तिपूर्वक मैं आप की स्तुति एवं पुनः-पुनः कोटिशः प्रणाम कर के आप से त्रैलोक्य सम्पत्ति नहीं मांगता। हे नाथ, मैं तो केवल यही चाहता हूं कि आप अपने ही समान हमें भी सारी सम्पदाओं से युक्त कर दें। आप की अलौकिक सम्पदाएँ कर्म-नाश से उत्पन्न हुई हैं, अक्षय सुख को देनेवाली हैं, अनाशवान् हैं और संसार के द्वारा नमस्कृत हैं।

आप इस धरती-तल पर अत्यन्त उदार परमदाता हैं और मैं अत्यन्त लोभी हूं। आप प्रसन्न हो कर मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें, जिससे मेरी अभिलाषा पूर्ण हो। आप के ही चरण-कमलों की पूजा इन्द्र किया करते हैं, आप धर्म-तीर्थ के उद्धारक हैं, आप कर्मरूपी महाशत्रुओं के नाशक हैं; आप ही महायोद्धा हैं और सम्पूर्ण संसार को स्वच्छ प्रकाश देनेवाले रत्नमय दीपक हैं। त्रिलोक को तारने में आप ही समर्थ एवं चतुर हैं एवं आप ही उत्तमोत्तम गुणों के आगार (खजाना) हैं। इसलिये हे प्रभो, मैं संसार-सागर में निरवलम्ब हो कर डूब रहा हूं। कृपा कर आप मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गौतम ब्राह्मण ने जिनपति महावीर प्रभु की स्तुति कर के उनके चरण-कमलों को प्रणाम किया और अपने को कृतकृत्य समझा। इसके अनन्तर वह गौतम ब्राह्मण इन्द्रों द्वारा पूज्य हुआ और सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूपी रत्न को पा कर, श्रेष्ठ धर्म के उत्तम-मार्ग का चतुर ज्ञाता हो गया तथा जघन्य कर्मरूपी शत्रुओं का नाशक हुआ।

षोडष प्रकरण

केवल-ज्ञानी सूर्य सम जगत् प्रकाशक वीर। अन्धकार अज्ञान को दूर करें मति धीर ॥ १ ॥

इसके बाद उन गौतम स्वामी ने श्री तीर्थनायक महावीर स्वामी को नतमस्तक हो कर प्रणाम किया। भव्य-जीवों की और अपनी कल्याण-कामना से, अज्ञान के नाश एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिये, उन्होंने सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्र प्रभु से निम्नोक्त प्रश्न किये—

'हे देव! जीव-तत्व का लक्षण क्या है? उसकी अवस्था कैसी है, इसके भेद एवं गुण कितने हैं? पर्याय कौन-कौन हैं? कितने पर्याय सांसारिक पुरुषों के लिये गम्य हैं? इनके अतिरिक्त अजीव-तत्व के भेद, स्वरूप एवं गुण कौन-कौन से हैं? अन्य आस्रवादि तत्वों में कितने गुण-कारण एवं कितने दोष-कारण हैं? तत्व क्या वस्तु है? उसका कर्त्ता कौन है? तत्व का लक्षण (स्वरूप) और फल क्या है? संसार में किस तत्व के द्वारा क्या सिद्ध किया

जाता है? किन दुराचारों से पापी जीव नरकगामी होता है? किन जघन्य कर्मों के कारण जीव दुःखदायक तिर्यञ्चादि गतियों में चले जाते हैं? किन-किन श्रेष्ठ आचरणों के द्वारा जीव स्वर्गगामी होता है? किस दान के फल से शुभ परिणामवाले जीव भोगभूमि को प्राप्त होते हैं? किन आचरणों के द्वारा जीव को स्त्री-लिङ्गत्व की प्राप्ति होती है। क्या करने से स्त्रियों को पुरुष-पर्याय की प्राप्ति होती है? क्या कारण है कि कुछ जीव नपुंसक हो जाते हैं? किन-किन पापाचरणों के कारण जीव पगले, अन्धे, गूंगे, लूले, लंगड़े इत्यादि विविध प्रकार के अङ्गहीन हो कर अनेक दुखों को भोगते रहते हैं। किन-किन कर्मों के करने से जीव रोगी एवं निरोग, रूपवान एवं कुरूप, सौभाग्यशाली एवं दुर्भाग्यशाली हुआ करते हैं? किस कारण से मनुष्य मूर्ख और पण्डित, कुबुद्धि और बुद्धिमान, शुभ परिणामी और अशुभ अन्तःकरणवाले हुआ करते हैं? पापात्मा और धर्मात्मा, भोगशाली और भोगहीन, धनवान् और निर्धन—इत्यादि विषम परिस्थितिवाले लोग कैसे हो जाया करते हैं? अपने कुटुम्बियों का एवं इष्ट जनों का वियोग क्यों हो जाता है? फिर इसका संयोग क्यों हो जाता है? किस कारण से पिता के रहते पुत्र मर जाता है? क्यों किसी के पुत्र होता ही नहीं? कोई स्त्री वन्ध्या हो जाती है, इसका कारण क्या है? किस कर्म के करने से ऐसा होता है? किसी के पुत्र चिरञ्जीवी होते हैं, कोई कायर होता है, इसका क्या कारण है? किन कर्मों के प्रभाव से निन्दा तथा विमल कीर्ति प्राप्त होती है? सुशीलता और दुःशीलता कैसे प्राप्त हो जाती है? भव्य-जीवों को किस कारण से सुसंगति एवं दुःसंगति प्राप्त होती है? विवेकशीलता एवं जड़ता कैसे प्राप्त हो जाती है? उच्च कुल एवं नीच कुल क्यों मिल जाता है? किस कर्म के द्वारा मिथ्या-मार्ग में प्रवृत्ति होती है? जिन-धर्म के प्रति महान् प्रेम किस कर्म के कारण जागृत होता है? किसी को निर्बल तथा किसी को अति बलवान् शरीर क्यों मिल जाता है? मोक्ष का मार्ग कौन-सा है—लक्षण एवं फल क्या हैं? मुनियों का श्रेष्ठ धर्म कौन है? गृहस्थों का धर्म क्या है? दोनों धर्मों के अनुष्ठान का उत्तम फल क्या

मिलता है ? धर्म के कारण एवं भेद कौन-कौन हैं ? और शुभ आचरण क्या है ? छः कालों का स्वरूप क्या है ? तीनों लोक की स्थिति कैसी है ? इस धरती-तल पर शलाका यानी पदवीधारक पुरुष कौन हैं ? इन सब के सम्बन्ध में आप कृपया संक्षेप में उपदेश प्रदान करें और साथ ही भूत, भविष्य, वर्त्तमान—इन तीनों काल के विषय मे द्वादशांग से उत्पन्न आप के सम्पूर्ण ज्ञान का उपदेश भव्य-जीवों के उपकार के लिये एवं स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति के लिये, अपनी अनुपम गम्भीर ध्वनि से करने की कृपा करें। गौतम ब्राह्मण की इस प्रश्नावली को सुन कर भव्य जीवों की भलाई के लिये, सतत् प्रयत्नशील तीर्थराज महावीर प्रभु ने मोक्ष-पथ को दिखला कर उसमें प्रवृत्त कराने की इच्छा से, तत्वादि प्रश्नों का सम्यक् उत्तर, गम्भीर-ध्वनि में देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा—

"हे बुद्धिमान् गौतम ! तू अपनी अभीष्ट पूर्ति कर देनेवाले प्रश्नोत्तरों को स्थिर-चित्त हो कर अन्यान्य उपस्थित प्राणियों के साथ सुन। इस उपदेश से सभी का कल्याण होगा।" प्रभु ने जब अपने मुखारविन्द से दिव्य उपदेश की मधुर-ध्वनि निकाली, तब उनके ओष्ठ इत्यादि का परिचालन एकदम ही नहीं हुआ। वह ध्वनि पर्वत-गुफाओं से निकली प्रतिध्वनि के समान थी, अत्यन्त कर्णप्रिय थी और नाना सन्देहों को नष्ट करनेवाली थी। धन्य है, तीर्थराजों की उस योगजन्य अद्भुत शक्ति को, जिसके द्वारा सांसारिक भव्यों का महान् उपकार होता है। भगवान कहने लगे—हे गौतम ! बुद्धिमान् लोग जिसको यथार्थ सत्य मानते हैं; वह सर्वज्ञ-प्रतिपादित-पदार्थों का स्वरूप ही है। इस बात को तुम सर्वथा निभ्रान्त समझो। जीव दो प्रकार के होते हैं—एक मुक्त (सिद्ध) पुरुष और दूसरे संसारी। प्रथम मुक्त जीवों मे तो कोई भेद नहीं; परन्तु संसारियों में कई प्रकार के भेद हैं। जो आठ कर्मों से रहित हैं, किन्तु आठ गुणों से शोभित है, सर्वदा एक स्वरूप हैं, समान सुखवाले हैं एवं सम्पूर्ण दुःखों से हीन हैं; उन्हीं को सिद्ध अथवा मुक्त कहा जाता है। ऐसे सिद्ध महापुरुष संसार के उच्चतम शिखर पर विराजमान हो कर निर्बाध एवं अनन्त ज्ञानयुक्त होते हैं

और उनका शरीर भी अलौकिक होता है। संसारी जीवों की विभिन्न श्रेणियाँ और विभिन्न भेद हैं। स्थावर और त्रस के भेद से वे दो प्रकार हैं—एकेन्द्री, विकलेन्द्री एवं पंचेन्द्री के भेद से तीन प्रकार के हैं और नरकादिक भेद से चार प्रकार के हैं। दयालु श्री जिनेन्द्र भगवान ने प्राणियों को इन्द्रियों की अपेक्षा एकेन्द्री, दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्री एवं पंचेन्द्री के भेद से पाँच तरह का कहा है। त्रस एवं स्थावर जीव छः प्रकार के होते हैं। इन छः काय जीवों की रक्षा के लिये ही श्री जिनेन्द्र प्रभु की आज्ञा है। पृथ्वी इत्यादि पांच स्थावर के साथ विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय मिला कर जीवों के सात भेद हो जाते हैं। पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी एवं असंज्ञी—जीवों की ये आठ जातियाँ हैं। पाँच स्थावर, दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्री, पंचेन्द्री—इस प्रकार जिनागम मे जीवों के नौ भेद कहे गये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्री, पंचेन्द्री—इस प्रकार जीवों के दस भेद कहे गये हैं। स्थावर के सूक्ष्म, बादर इत्यादि दस भेदों में ग्यारहवाँ त्रस मिला देने पर जीवों के ग्यारह भेद हो जाते हैं। ऐसा ही बुद्धिमानों को जानना चाहिये। दस स्थावर में विकलेन्द्र एव पंचेन्द्री मिला देने से जीवों के बारह भेद होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पाँच स्थावर के भेद से एवं पाँच बादर के भेद से कुल दस प्रकार के होते हैं। विकलेन्द्री, असंज्ञी पंचेन्द्री और संज्ञी पंचेन्द्री के साथ जीवों के तेरह भेद हो जाते हैं। सूक्ष्म बादर भेद दो प्रकार एकेन्द्री, दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्री और समनस्क (मन सहित) एवं अमनस्क (मन रहित) भेद से दो प्रकार का पंचेन्द्री—इस तरह इनके सात भेद होते हैं। ये सातों पुनः 'अपर्याप्त' एवं 'पर्याप्त' के भेद से चौदह प्रकार के हो जाते हैं। "अर्थात् जीव समान यानी जीवों का भेद चौदह प्रकार का हुआ।"

इसी प्रकारअनेक जीव-जातियों के भेदादि को श्री महावीर प्रभु ने गौतमादि गणधरों से कहा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकाय एवं नित्य-निगोद और इतर-निगोद के भेद से दो

प्रकार के साधारण वनस्पति—ये छहों पृथक्-पृथक् सात-सात लाख, दस लाख प्रत्येक वनस्पति, छः लाख विकलेन्द्री, पंचेन्द्री, तिर्यञ्च और नारकी, देव बारह लाख तथा चौदह लाख मनुष्यों की जातियाँ हैं। सब मिला कर चौरासी लाख योनियाँ हुई। इन जीवों का करोड़ों कुल है। इस बात को भी श्री महावीर प्रभु ने गणधरों से तथा उपस्थित प्राणी-समूहों से कहा। चार गति, पाँच इन्द्रिय-मार्गणा और छः काय मिल कर पन्द्रह योग हुए। स्त्री-वेद आदि तीन वेद हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि पचीस कषायें हैं। पाँच सुज्ञान एवं तीन कुज्ञान मिला देने से आठ प्रकार के ज्ञान हैं। शुभ एवं अशुभ रूप छः प्रकार की लेश्याएँ हैं। भव्य एवं अभव्य के भेद से दो प्रकार के जीव हैं; छः प्रकार के सम्यक्त्व हैं; संज्ञी एवं असंज्ञी भेद से दो तरह के और आहारक एवं अनाहारक भेद से भी दो प्रकार के जीव हैं। इस प्रकार से चौदह प्रकार के मार्मणा (अन्वेषण-पद) कहे गये हैं। सांसारिक जीवों को इन्हीं चौदह मार्गणाओं मे दर्शन-विशुद्धि के लिये ज्ञानियों की खोज करनी चाहिये। जिनेन्द्र महावीर प्रभु ने मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देश संयत, अप्रमत्त, अधःकरण, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्म सांपराय, उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय, सयोगी जिन, अयोगी जिन—इन चौदह गुण-स्थानों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। इन्हीं चौदहों गुण-स्थानों के द्वारा भूतकाल में भव्य जीवों ने निर्वाण-पद को प्राप्त किया है; वर्तमान काल में प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य काल में भी प्राप्त करेंगे। मोक्ष प्राप्ति का और कोई अन्य मार्ग नहीं है। ग्यारह अंगों के अर्थों को जान लेने पर एवं अभव्य के सदैव दीक्षित हो जाने पर भी, पहले मिथ्यात्व गुण-स्थान ही आता है; अन्य नहीं। जिस प्रकार कि मिश्री मिले हुये मीठे दूध को पी कर भी महाविषैला काला साँप अपने स्वाभाविक विष को नहीं छोड़ सकता; उसी तरह अभव्य भी आगमरूपी अमृत का पान करने पर भी मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता। अतः शेष तेरह गुणस्थान पार्श्ववर्ती भव्यों के ही हो पाते हैं। अभव्य एवं दूरवर्ती भव्यों के कदापि नहीं होते। इस प्रकार

श्री महावीर प्रभु ने जीवतत्व की व्याख्या पहले तो आगम (पारमार्थिक) भाषा में की; पुनः उसी तत्व (उपदेश) का व्याख्यान अध्यात्म (व्यावहारिक) भाषा में उन्होंने किया। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—ये तीन प्रकार के जीव, गुण और दोष की अपेक्षा के लिये कहे गये हैं। बहिरात्मा वही है, जो तत्व-अतत्व, गुण-अगुण, सुगुरु-कुगुरु, धर्म-पाप, शुभ-अशुभ, शास्त्र-कुशास्त्र, देव-कुदेव एवं हेय-उपादेय के विश्लेषण की परीक्षा में असमर्थ एवं विचारहीन है। जो बिना विचार किये ही, अपनी इच्छा के अनुसार सब वस्तुओं को ग्रहण कर लेता है, वही मूर्ख पहला बहिरात्मा है। ग्रहण किया गया यथार्थ, असत्य हो अथवा सत्य, इसका विचार न कर जो जड़मति महाविष के समान नाशकारी विषयजन्य सुख को ग्राह्य समझ कर सेवन करता है, वही बहिरात्मा है। जो बुद्धिहीन, जड़ शरीर एवं चैतन्यरूप जीव को परस्पर सम्बद्ध हो जाने के कारण एक ही मान लेता है, वह ज्ञान से बहुत दूर है—निरामुख है और कुछ भी नहीं जानता। बहिरात्मा जीव अपनी दुर्बुद्धि के कारण उलटा समझता है। वह पापों को पुण्य समझ कर उनका आचरण करता है और अनेक प्रकार के कष्टों को पा कर दुःखी होता है। ऐसे लोग इस संसाररूपी महा घोर वन में सदैव भटका ही करते हैं। जो तप, श्रुत एवं व्रतों से युक्त होने पर भी आत्म-स्वरूप एवं पर-स्वरूप का अच्छी तरह विचार नहीं कर पाता, वह आत्म-ज्ञान से वञ्चित है। इसलिये बुद्धिमानों को चाहिये कि इन बहिरात्माओं के संसर्ग से सदैव बचे रहें। बहिरात्मा जघन्य पथ के पथिक होते हैं, स्वप्न में भी इनका संसर्ग कल्याणकारी नहीं होता।

अन्तरात्मा वे हैं, जो कि बहिरात्मा के विपरीत हैं। इनकी बुद्धि विवेकशील होती है। ये जिन-सिद्धान्त के धर्म-सूत्रों को जानते हैं और तत्व-अतत्व, शुभ-अशुभ, देव-कुदेव, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म तथा मिथ्या-मार्ग एवं मोक्ष-मार्ग के यथार्थ भेदों को अच्छी तरह जानते हैं। जिनमें ऐसी भेद-ज्ञानात्मक शक्ति है, उसको जिनेन्द्र श्री महावीर प्रभु ने

'अन्तरात्मा' कहा है। जो अपने-आप को निष्फल एवं सिद्धों के समान समझ कर, योगियों की तरह ध्यान-मग्न रहता है अर्थात् चिन्तवन किया करता है और आत्म-द्रव्य एवं पर-देह इत्यादि वस्तुओं में वास्तविक भेदों को समझता है, उस महाज्ञानी को 'अन्तरात्मा' कहते हैं। थोड़े शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि जिसका पवित्र एवं श्रेष्ठ मन, उत्तम-अधम के विचार कर लेने में कसौटी के समान होकर निर्णय कर डालता है, वही अन्तरात्मा या परम ज्ञानी है। ऐसा जान कर आत्मा की तरफ से सम्पूर्ण जड़ता को हटा ले और परमात्मपद पाने की इच्छा से उसके पहले अन्तरात्मपद को प्राप्त करें।

परमात्मा सकल-विकल के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। जो दिव्य शरीर में अवस्थित रहते हैं, वे 'सकल-परमात्मा' यानी अर्हन्त प्रभु हैं। जो शरीर-रहित हैं—ऐसे सिद्ध महापुरुष 'निकल-परमात्मा' कहे जाते हैं। जो घातिया कर्मों का एकदम नाश कर उनसे रहित हो गये हैं, नव केवल-लब्धिवाले मोक्ष के अभिलाषी हैं, तीनों जगत् के मनुष्य एवं देवों के द्वारा सदैव ध्यान करने योग्य हैं और संसार-सागर में डूबते हुये भव्य-प्राणियों को अपने धर्मोपदेशरूपी कोमल करों से उबारने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहते हैं तथा अत्यन्त बुद्धिमान महापुरुषों के गुरु हैं, धर्म-तीर्थ प्रवर्तक हैं, साक्षात् तीर्थङ्कर स्वरूप हैं, सामान्य केवली स्वरूप हैं, सर्ववन्द्य हैं, अलौकिक औदारिक शरीर से शोभायमान हैं और सम्पूर्ण लोकातिशय सम्पत्तियों से युक्त हो कर संसार में सब को स्वर्ग एवं मोक्षरूपी उत्तम फल प्राप्त कराने की इच्छा से निरन्तर धर्मोपदेशरूपी अमृत की वर्षा किया करते हैं, उन्हीं को 'सकल परमात्मा' कहते हैं। वे ही जगत् के स्वामी हैं और जिनेन्द्रपद के अभि-लाषी हैं। उन्हें चाहिये कि किसी अन्य की शरण में न जा कर, इन्हीं सकल परमात्मा प्रभु की सेवा करें। ऐसा ही नियम है। पूर्व के लोग ऐसा ही करते आये हैं। जो सम्पूर्ण कर्मों से रहित, शरीरादि मूर्तियों से हीन, परम ज्ञानमय, अतिशय महान्, तीनों लोकों में श्रेष्ठतम, आठ गुणों से अलंकृत, तीनों लोकों के बड़े-बड़े स्वामियों के द्वारा सेवित,

मोक्षाभिलाषियों द्वारा वन्दनीय तथा संसार के मुकुटमणि के समान विराजमान हैं, वे ही 'निकल परमात्मा' कहे गये हैं। यही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध परमेष्ठी अति निश्चल मन से मुमुक्षुओं के द्वारा सदैव ध्यान करने के योग्य हैं। ऐसा ध्यान करने से कान्तिहीन योगी की तरह परमात्मारूप मोक्ष को सब लोग सहज ही में पा लेते हैं। प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट, दूसरे गुणस्थान में मध्यम और तीसरे गुणस्थान में जघन्य बहिरात्मा कहा गया है। इसी तरह जघन्य अन्तरात्मा चौथे गुणस्थान में और उत्कृष्ट अन्तरात्मा बारहवें गुणस्थान में कहा गया है। इससे अनन्त केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। दोनों के बीच में जो शेष सात शुभ गुणस्थान हैं, उनमें मोक्षमार्ग पर अवस्थित मध्यम अन्तरात्मा है। अन्तिम तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में तीनों जगत् के जीवों के द्वारा परमसेव्य परमात्मा अयोगी एवं सयोगी रूप से वर्तमान हैं।

जो भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान तीनों काल में 'द्रव्यभाव' प्राणों से जीवन-धारण करने की शक्ति रखता है, वही यथार्थ 'जीव' है। पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काय, आयु एवं उच्छ्वास-निःश्वास—संज्ञी-जीवों के ये दस प्राण हैं। असंज्ञी-जीवों के 'मन' को छोड़ कर शेष नौ प्राण होते हैं—ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। चौ इन्द्रिय जीवों के आठ ही प्राण कहे गये हैं, उनमें कर्णेन्द्रिय और मन की कमी हो जाती है। इसी प्रकार ते-इन्द्रिय जीवों के सात प्राण (नेत्र, कर्ण तथा मन को छोड़ देने से) होते हैं। दो इन्द्रिय जीवों के (नेत्र, कर्ण, नासा, मन को छोड़ कर) छः प्राण और एकेन्द्रिय जीवों के तो (नेत्र, कर्ण, नासा, जिह्वा, मन तथा वचन छोड़ कर) चार ही प्राण कहे गये हैं। इस जीव को, बुद्धिमानों ने, निश्चय तप के द्वारा उपयोगमयी चेतनस्वरूप, कर्म, नो कर्म, बन्ध-मोक्ष का अकर्त्ता, असंख्यात-प्रदेशी, अमूर्त्त, सिद्ध-समान और परद्रव्य से रहित कहा है। अशुद्ध निश्चय नय के द्वारा यही जीव रागादि भाव-कर्मों का कर्त्ता और आत्मज्ञान से हीन हो कर कर्म-फलों का भोक्ता है। व्यवहार नय के द्वारा यह जीव आत्म-ध्यान से रहित हो कर कर्म एवं शरीरादि

नो कर्मों का कर्त्ता है। यही सांसारिक जीव अपने इन्द्रियों द्वारा ठगे जाने पर 'असद्भूत' एवं 'उपचरित' व्यवहार नय से घट-वस्त्र प्रभृति वस्तुओं का निर्माता है। यह आत्मा समुद्घात के बिना, संकोच एवं विस्तार-शक्ति से प्राप्त शरीर के बराबर है। दीपक से इसकी तुलना की जा सकती है। वेदना, कषाय, वैक्रियक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक एवं केवली-समुद्घात—ये सात प्रकार के 'समुद्घात' कहे गये हैं। इनमें से तीन तैजस, आहारक एवं केवली-समुद्घात योगियों के होते हैं और शेष चार समुद्घात सम्पूर्ण सांसारिक जीवों के हो सकते हैं। इस जीव के स्वभाव-गुण 'केवल-ज्ञानादि' हैं और विभाव-गुण 'मतिज्ञानादि' हैं तथा इस जीव के नर, नरक एवं देवादि पर्याय, विभाव-पर्याय और शरणहीन शुद्धप्रदेश स्वभाव-पर्याय हैं। पूर्व शरीर के विनाश एवं अन्य शरीर की उत्पत्ति-काल में एक ही आत्मा है। अतएव उसके उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य—ये तीन भेद कहे गये हैं। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव श्री महावीर प्रभु ने अनेक नय-भेदों के द्वारा गणधर गौतम की दर्शन-विशुद्धि के लिये जीवतत्व का उपदेश किया। इसके बाद जिनेन्द्र प्रभु ने पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल के पाँच भेदयुक्त अजीवतत्त्व का व्याख्यान आरम्भ किया। रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शवाले पुद्गल-द्रव्य अनन्त हैं और 'पूरण-गलन-स्वभाव' होने के कारण उनका सार्थक है। साधारणतः पुद्गल के 'अणु' 'स्कन्ध' रूप दो भेद हैं। इन दोनों में जो कि अविभागी है, वह 'अणु' कहा जाता है और स्कन्धों के तो अनेक भेद हैं अथवा वही पुद्गल सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद से छः प्रकार के हो जाते हैं। उनमें से परमाणुरूप एक तो सूक्ष्म-सूक्ष्म है, जो नेत्रों से नहीं देखा जा सकता आठ द्रव्य-कर्मरूप पुद्गल स्कन्ध, सूक्ष्म-पुद्गल हैं। शब्द, स्पर्श, रस एवं गन्ध सूक्ष्म-स्थूल पुद्गल हैं। छाया, चाँदनी, धूप इत्यादि स्थूल-सूक्ष्म पुद्गल हैं। जल, अग्नि इत्यादि बहुत से स्थूल पुद्गल हैं। पृथ्वी, विमान, पर्वत, गृह इत्यादि स्थूल-स्थूल पुद्गल हैं—ये पुद्गल के छः भेद हुये। स्पर्शादि बीस निर्मल गुण परमाणु में हैं। ये 'स्वभाव-गुण' कहे जाते हैं। स्कन्ध में 'विभाव-गुण'

कहा गया है। शब्द, अनेक तरह का बन्ध, अपेक्षा से स्थूल-सूक्ष्म, छः प्रकार के संस्थान, अन्धकार, छाया, आतप, उद्योत इत्यादि पुद्‌गलों के विभाव-पर्याय हैं। परमाणुओं में स्वभाव-पर्याय ही रहते हैं। इसी प्रकार शरीर, मन, श्वासोच्छ्‌वास एवं इन्द्रियाँ भी पुद्‌गल के पर्याय-स्वरूप हैं। ये सभी पुद्‌गल-पर्याय, जीवन-मरण एवं सुख-दुःख आदि रूप में जीवों का अनेक उपकार किया करते हैं। स्कन्ध मे अर्थात् एकत्रित परमाणु-पुञ्ज में काय-व्यवहार की बहुत अपेक्षा है तथा परमाणु में उपचार से कारण होने की अपेक्षा 'कायपना' कहते हैं।

जो जीव-पुद्‌गल की गमनक्रिया में सहायक हैं, वही धर्म-द्रव्य हैं। धर्म-द्रव्य मूर्त्तिहीन, क्रियाहीन एवं नित्य है। जिस प्रकार जल मछलियों को सहायता ही करता है, प्रेरणा नहीं; वही अवस्था इसकी भी है। पथिकों को छाया के समान जो जीव पुद्‌गल की संस्थिति में सहायक होता है, वह अधर्म-द्रव्य है। यह अधर्म-द्रव्य भी मूर्त्तिहीन, क्रियाहीन एवं नित्य है। आकाश-द्रव्य, लोक और अलोक के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। यह सम्पूर्ण द्रव्यों को स्थान देनेवाला है और यह भी वैसी ही मूर्त्तिहीन है। जितने परिमाण स्थान में धर्म, अधर्म, काल पुद्‌गल एवं जीव रहते हैं; उतने स्थान को लोकाकाश कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्यों से रहित केवलमात्र जो आकाश है, उसको अलोकाकाश कहते हैं। यह अलोकाकाश अनन्त, अमूर्त, क्रियाहीन एवं नित्य है। इसे सर्वज्ञों ने देखा है। जो द्रव्यों की नवीन एवं प्राचीन अवस्था को बदल देनेवाला है। वह समयादि-स्वरूप व्यवहारकाल है। लोकाकाश के विभिन्न प्रदेशों पर रत्नराशि के समान जो एक-एक अणु पृथक्-पृथक् क्रियाहीन हो कर स्थिररूपेण अवस्थित हैं, उन असंख्य कालाणुओं को जिनेन्द्र प्रभु ने 'निश्चय काल' कहा है। धर्म, अधर्म, जीव एवं लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। काल के प्रदेश नहीं हैं; क्योंकि वह स्वयं एक-प्रदेशी है। इसलिये काल को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य-अस्तिकाय कहे गये हैं। इन पांचों में छट्ठे काल को मिला देने से जिनमत के छः

द्रव्य पूर्ण हो जाते हैं। द्रव्यों की इतनी ही संख्या निश्चित की गयी हैं। एक पुद्गल परमाणु जितने आकाश-क्षेत्र को व्याप्त कर ले उतने ही स्थान को 'एकप्रदेश' कहते हैं। संसारी जीवों के कर्म, जिस रागादिरूप मलिन परिणाम से आते हैं; उसको 'परिणाम-भावास्रव' कहा जाता है। बुरे परिणामवाले जीव के जिन-जिन कारणों द्वारा पुद्गलों का कर्मरूप में आना है; वह 'द्रव्यास्रव' है। आस्रव के मिथ्यात्व आदि कारण विस्तारपूर्वक पहले के अनुप्रेक्षा प्रकरण में कह आये हैं। इनके भेद एवं तत्व को वहीं समझ लेना चाहिये। जिस राग-द्वेषरूप आत्मा के परिणाम से कर्मजाल फैला है; वह परिणाम-भाव-बन्ध है। भाव-बन्ध ही के कारण जीव एवं कर्म का परस्पर बंध जाना 'द्रव्य-बन्ध' है; वह द्रव्य-बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश नाम के द्वारा चार भागों में विभक्त है। इस बन्ध को अशुभ एवं अनर्थोत्पादक कहा गया है। बन्ध-योगों से प्रकृति और प्रदेश तथा स्थिति एवं अनुभाग-बन्ध—ये दो दुष्ट-बन्ध कषायों के द्वारा होते हैं। इस निर्णय को स्वयं मुनीश्वरों ने ही कहा है।

जीवों के मतिज्ञानादि उत्तम गुणों को 'ज्ञानावरण' कर्म ढंक देते हैं। जिस तरह कि किसी देव-प्रतिमा को वस्त्रादि आवरण से ढंक दिया जाता है; जिस प्रकार अपने कार्य के निमित्त राज-दरबार में जाने पर द्वारपाल रोक देता है; उसी प्रकार नेत्रादि के दर्शन धर्म को 'दर्शनावरण' कर्म रोक देते हैं। मनुष्यों के 'वेदनीय-कर्म' मधु से लिपटी हुई तलवार के समान है। इसके द्वारा सुख तो सरसों के बराबर अत्यल्प मिलता है और बाद में मेरु पर्वत के समान भयङ्कर एवं महान् दुःख आ घेरता है। जिस प्रकार मदिरा को पी कर मदोन्मत्त जीव किसी को कुछ भी नहीं समझता; उसी तरह अज्ञानी जीवों को 'मोहनीय-कर्म' सम्पूर्ण दर्शन, ज्ञान, विचार एवं चारित्रादि धर्म कार्यों से एकदम उपेक्षित और पथ-भ्रष्ट बना देता है। वे नितान्त उन्मत्त हो उठते हैं। जिस प्रकार कारागार से कैदी को बाहर निकलने में हाथ-पांवों में बंधी हुई लौह-शृङ्खला (बेड़ी) बाधा उपस्थित

कर देती है; उसी प्रकार 'आयु-कर्म' कायरूपी कारागार में बन्द जीवरूपी कैदी को काय के बाहर निकलने से सदैव रोके रहता है। वह काय में ही जीवों को दुःख, शोकादि नाना प्रकार की आपदायें भोगने के लिये बाध्य करता है। 'नाम-कर्म' चित्रकार के समान जीवों के अनेक रूप बनाया करता है। कभी बिलाव, कभी सिंह, कभी हाथी, कभी मनुष्य और कभी देव। जिस प्रकार कुम्हार अपने बर्तनों को नाना आकृति का बनाता है; उसी प्रकार अनेक प्रकार की आकृति प्रदान करना 'नाम-कर्म' का ही कार्य है। 'गोत्र-कर्म' कभी सर्वश्रेष्ठ गोत्र (कुल) और कभी अति निन्दनीय गोत्र प्रदान कर देता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कोषाध्यक्ष अपने स्वामी को दान करने से रोकता है; 'अन्तराय-कर्म' भी दान-लाभादि पाँच कर्मों में सदैव विघ्न उपस्थित किया करता है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य कर्मों को इसी प्रकार जान लेना चाहिये। वे स्वभावतः जीवों के कर्म आने के कारण हैं। दर्शनावरण, ज्ञानावरण, वेदनीय एवं अन्तराय—इन चार कर्मों की उच्चतम स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। मोहनीय-कर्म की उच्चतम स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है। इसी प्रकार नाम-कर्म एवं गोत्र-कर्म की स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर की है—इसी प्रकार जिनेन्द्रदेव ने आठ कर्मों की अत्यन्त उत्कृष्ट स्थिति को बतलाया है। वेदनीय-कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम एवं गोत्र-कर्म की आठ मुहूर्त तथा अन्य शेष पाँच कर्मों की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है। सब कर्मों की मध्यम स्थिति कई प्रकार की है और परिमाण भी उनका मध्यम ही है। अशुभ कर्मों का अनुभाग निम्ब, कांजी, विष एव हलाहल—ये चार प्रकार है। शुभ कर्मों का अनुभाग गुड़, खांड़, मिश्री एवं अमृत—ये चार प्रकार है। प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण कर्मों का अनुभाग अनेक प्रकार का है और सांसारिक जीवों को क्षण-क्षण सुख दुःख प्रदान करता रहता है। सांसारिक जीवों के सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों में अनन्तानन्त सूक्ष्म कर्म-परमाणु सब जहां परस्पर मिल कर एक हो जांय, उन कर्म-परमाणुओं के बन्ध

को 'प्रदेश-बन्ध' कहते हैं। इस प्रदेश-बन्ध में दुःख ही दुःख भरे पड़े हैं। यह दुःखों का समुद्र ही है। इन चार प्रकार के बन्धों को अपना बैरी समझ कर बुद्धिमानों को चाहिये कि इन्हें दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तपरूपी वाणों से नष्ट कर डालें। इन्हें सम्पूर्ण दुःखों का मूल-कारण समझना चाहिये। राग-द्वेषहीन हो कर जो चैतन्य-परिणाम कर्मों के आस्रव को रोकनेवाला है, वह परिणाम 'भाव-संवर है। योगीजन जिन महाव्रतादि उत्तम ध्यानों से सम्पूर्ण कर्मास्रवों का निरोध करते हैं, उनको सुखदायक 'द्रव्य-संवर' कहते हैं।

संवर के कारण महाव्रतों के द्वारा परीषहों के जीतने के विषय में पहले कहा जा चुका है; इससे पुनः पिष्ट-पेषण करना ठीक नहीं। जिज्ञासुओं को वही से जान लेना चाहिये। सविपाक एवं अविपाक के भेद से जीवों की निर्जरा दो प्रकार की होती हैं। इन दोनों में से मुनीश्वरों की 'अविपाक' एवं अन्य सब सांसारिक जीवों की 'सविपाक' निर्जरा होती है। इसके पूर्व भी निर्जरा का वर्णन विस्तारशः कर दिया गया है। पुनरुक्ति दोष के भय से पुनः यहां उल्लेख नहीं किया जा रहा है। जो परिणाम, मोक्षाभिलाषी जीवों के सम्पूर्ण कर्मों के नाशक हो, वही अतिशुद्ध परिणाम है। उसी को जिनेश्वर महावीर प्रभु ने 'भावमोक्ष' कहा है। अन्तिम शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से ज्ञानमय आत्मा का सम्पूर्ण कर्म-जाल से पृथक् हो जाना ही 'द्रव्य-मोक्ष' है। जिस प्रकार बन्धनों से आपादमस्तक बंधे हुये पुरुष को समस्त बन्धन खुल जाने पर अत्यन्त हर्ष एवं सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार असंख्य कर्म बन्धनों से जकड़े हुए जीव को 'मोक्ष' मिल जाने से वह जीव निराकुल हो कर अनन्त एवं अक्षय सुख को प्राप्त करता है। कर्मों से छूट जाने के बाद यह मूर्तिहीन, ज्ञानवान्, अति निर्मल आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगति होने के कारण, ऊपर 'सिद्धालय' में जा पहुंचता है। वहां जा कर निर्बाध हो कर अनुपम, आत्मजन्य, विषयातीत, आकुलताहीन, वृद्धि-हानि-रहित, नित्य, अनन्त एवं सर्वोत्तम सुखों को भोग वह ज्ञान-शरीरी सिद्ध-परमात्मा पद को प्राप्त करता है। अहमिन्द्र इत्यादि देव, चक्रवर्ती, विद्याधर, भोगभूमियाँ इत्यादि

उपर्युक्त सम्पूर्ण पाप-कारणों के विपरीत शुभ आचरणों का अनुष्ठान करने से, सम्यक्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र से, अणुव्रत-महाव्रतों से, कषाय-इन्द्रिय-योगों को रोकने से, नियम आदि से, श्रेष्ठ दान से, अर्हन्त के पूजन से, गुरु-भक्ति एवं सेवा करने से, सद्भावनापूर्वक ध्यान एवं अध्ययनादि शुभ-कार्यों से एवं धर्मोपदेश से बुद्धिमान पुरुषों को उत्कृष्ट पुण्य की प्राप्ति हुआ करती है। जिनका मन वैराग्ययुक्त है, धर्म अनुरक्त है, पाप से दूर रहता है, पर-चिन्ता से रहित हो कर आत्म-चिन्ता में लीन है, देव-गुरु एवं शास्त्रों की परीक्षा करने में पूर्ण समर्थ एवं कृपा से परिपूर्ण है—वे उत्कृष्ट पुण्यों का उपार्जन करते हैं। जिनके वचन, पाँच परमेष्ठियों के जप-स्तोत्र करनेवाले एवं गुणों को कहनेवाले हैं, आत्म-निन्दा से युक्त एवं पर-निन्दा से हीन होते हैं, कोमल स्वर में धर्मोपदेश को करनेवाले हैं तथा इष्ट-सत्य, मर्यादारूप शुभ-कर्मों के दाता हैं, ऐसे ही लोग शुभ-वचनों के प्रभाव से परम पुण्य को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार जो लोग कायोत्सर्ग (पद्मासन) रूप से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा में सदैव तत्पर रहते हैं, गुरु की सेवा में प्रयत्नशील रहते हैं, पात्र को दान देनेवाले हैं, विकारहीन हो कर शुभ-कार्यों को करनेवाले हैं व समानता को प्राप्त हैं, ऐसे ही बुद्धिमानों को शारीरिक पुण्य-कार्यों के प्रभाव से सम्पूर्ण आश्चर्यजनक सुखों को देनेवाले महापुण्य प्राप्त होते हैं। जो वस्तु अपने को अनभिप्रेत है, अनिष्ट है—ऐसी वस्तुओं को दूसरों के लिये भी अनिष्ट ही समझना चाहिये। जो ऐसा समझता है, वह निश्चयरूपेण पुण्यशाली है। इस प्रकार तीर्थराज श्री महावीर प्रभु ने उपस्थित जीव-समूहों के व गणधरों के सामने 'संवेग' होने के लिये पुण्य के अनेक प्रकार के कारणों को कह कर पुण्य-फलों को कहना आरम्भ किया।

सुशीला व सुन्दरी स्त्री, कामदेव के समान रूपवान् पुत्र, मित्र के समान भाई, सुख देनेवाले परिवार, पर्वत के समान हाथी आदि वैभव, कवियों के द्वारा भी अवर्णनीय सुख, अतुलनीय भोगोपभोग, सौम्य शरीर, मधुर वचन, दयापूर्ण मन, रूप-लावण्य तथा अन्यान्य

दुष्प्राप्य सुख-सम्पदायें पुण्योदय के प्रभाव से ही प्राप्त हुआ करती हैं। तीनों लोकों में दुर्लभ, अनेक पुण्य-कर्मों को करनेवाली लक्ष्मी स्वयं ही पुण्योदय के प्रभाव से गृहदासी के समान धर्मात्माओं के अधीन हो जाती है। त्रैलोक्यपति के द्वारा पूजनीय व भव्य-जीवों की मुक्ति का कारण उत्कृष्ट सर्वज्ञ का वैभव भी पुण्योदय से ही उत्पन्न होता है। इस इन्द्रपद को भी, जो सम्पूर्ण देवों के द्वारा पूज्य है, सकल प्रकार के भोगों का श्रेष्ठ स्थान है व अनेक उत्तम-उत्तम सम्पदाओं से सुशोभित है, बुद्धिमान पुरुष पुण्योदय से ही प्राप्त करते हैं। निधि व बहुमूल्य रत्न-राशियों से परिपूर्ण, अनेक प्रकार के सुखों को देनेवाली, छः खंडों की लक्ष्मी भी ऐसे ही पुण्यात्माओं को पुण्य योग से मिल जाती है। इस संसार में अथवा तीनों जगत् में जो कुछ भी सारभूत परमोत्तम वस्तु है, चाहे वह अत्यन्त दुर्लभ ही क्यों न हो, पुण्योदय के प्रभाव से तत्क्षण ही प्राप्त हो जाती है। इसलिये ऐ प्राणियो यदि तुम लोग भी सुख-प्राप्ति की अभिलाषा रखते हो, तो पूर्वोक्त पुण्यों के अनिर्वचनीय अनेक उत्तमोत्तम फलों को समझ कर, प्रयत्नपूर्वक उच्चतम पुण्य-कर्मों में प्रवृत्त हो जाओ! इस प्रकार पाप-पुण्य के सहित सात तत्वों का स्पष्ट व्याख्यान कर चुकने के बाद जिनेश्वर श्री महावीर प्रभु ने सम्पूर्ण सांसारिक जीवों के हेय (त्याज्य) व उपादेय (ग्राह्य) वस्तुओं का उपदेश करना आरम्भ किया।

सम्पूर्ण भव्य-जीवों के हितेच्छु अर्हन्त आदि पाँच परमेष्ठी हैं। इसलिये जीव-समूह के द्वारा वे उपादेय हैं। निर्विकल्प पद पर पहुंचे हुये मुनियों के लिये तो गुणसागर व सिद्ध पुरुषों के समान ज्ञानवान् अपनी आत्मा ही उपादेय है। व्यवहार-दृष्टि से पृथक् हुये बुद्धिमान पुरुषों के लिये, शुद्ध निश्चयनय के द्वारा सभी जीव उपादेय हैं। व्यवहार-दृष्टि से सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टी अभव्य तथा विषय-सुखों में लीन पापी व धूर्त जीव हेय (त्याज्य) कहे गये हैं। रागयुक्त जीवों के लिये धर्म-ध्यान के निमित्त अजीव-पदार्थ कहीं तो उपादेय कहे गये हैं; परन्तु विकल्पहीन योगियों के लिये तो सकल अजीव-तत्त्व ही हेय है। इसी

तरह पुण्य-कर्म का आस्रव व बन्ध रागयुक्त जीवों के लिये पाप-कर्म की अपेक्षा उपादेय कहे गये हैं और मुमुक्षुओं (मोक्ष चाहनेवालों) के लिये आस्रव व बन्ध दोनों ही हेय हैं। पाप के जो आस्रव व बन्ध हैं, वे तो सर्वथा हेय हैं; क्योंकि इनसे विविध प्रकार के दुःखों की उत्पत्ति होती है और स्वयं भी ये अपने-आप ही उत्पन्न हो जाते हैं। संवर व निर्जरा सब अवस्था में सर्वथैव उपादेय होते हैं। इसके अतिरिक्त मोक्षतत्व तो अनन्त व अक्षय सुखों का समुद्र है; इसीलिये यह सर्वतोभावेन उपादेय है। इस प्रकार हेय व उपादेय वस्तुओं को अच्छी तरह जान कर बुद्धिमान पुरुषों को चाहिये कि यत्नपूर्वक हेय वस्तुओं से सदैव दूर रहें और सम्पूर्ण उत्कृष्ट उपादेय वस्तुओं का ग्रहण करें। प्रधानतया पुण्यास्रव, पुण्यबन्ध का करनेवाला, सम्यक्‌दृष्टी, गृहस्थ, व्रती व सराग-संयमी होता है। कभी-कभी मिथ्यादृष्टी गृहस्थ भी कर्मों के मन्द उदय होने के कारण काय-क्लेशपूर्वक भोग प्राप्ति की अभिलाषा से पुण्यभूत आस्रव-बन्ध को करने लग जाता है। मिथ्यादृष्टी जीव दुराचारी होने के कारण कोटि-कोटि जघन्य कार्यों का आचरण कर के मुख्यतया पुण्यास्रव व पाप-बन्ध का करनेवाला होता है। इस धरातल पर केवलमात्र योगी ही संवर आदि तीन तत्वों के करनेवाले जितेन्द्रिय व बुद्धिमान हो कर रत्नत्रय से सुशोभित हो पाते हैं। भव्य-जीवों को संवर आदि की सिद्धि (प्राप्ति) के लिये अपना विकल्प-रहित आत्मा व पाँच परमेष्ठी कारण होते हैं। पापास्रव व पाप-बन्ध का और अपना तथा अन्यान्य अज्ञानियों का कारण मिथ्यादृष्टी ही है। सम्पूर्ण बुद्धिमान् भव्य-जीवों के सम्यक्‌दर्शन व ज्ञान का कारण पाँच प्रकार का अजीव-तत्व है। पुण्यास्रव व पुण्य-बन्ध सम्यक्‌दृष्टिवालों को तीर्थङ्कर की विमल विभूतियाँ देते हैं तथा मिथ्यादृष्विालों के लिये ये दोनों संसार के कारण हो जाते हैं। पापास्रव और पाप-बन्ध अज्ञानियों को होते हैं। ये दोनों संसार के कारण और सम्पूर्ण दुःखों के कर्त्ता हैं।

संवर व निर्जरा मोक्ष के कारण हैं और मोक्ष अनन्त सुखरूपी समुद्र का कारण है।

एकदम पराधीन हैं; वहां सुख का लेश भी नहीं है। जो जीव नास्तिक हैं, दुराचारी हैं,
परलोक, धर्म, तप, चारित्र, जिनेन्द्र व शास्त्र आदि को नहीं मानते; दुर्बुद्धि अत्यन्त
विषय-वासनाओं में आसक्त व उग्र मिथ्यात्व से युक्त अज्ञानी हैं; वे अनन्त दुःखों के अपार
सागर निगोद में जा कर उत्पन्न होते हैं और वहां पर अपने दुष्ट पापों के उदय होने के
कारण जन्म-मरणरूपी अनिर्वचनीय भीषण दुःखों को चिरकाल भोगते हैं।

जो जीव तीर्थङ्कर की, श्रेष्ठ गुरुओं की, ज्ञानियों की व धर्मात्मा महात्माओं की
श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवा व पूजा सदैव करते रहते हैं; महाव्रतों का, अर्हन्तदेव व निर्ग्रन्थ गुरु
की आज्ञाओं का तथा सम्पूर्ण अणुव्रतों का पालन किया करते हैं, अपनी शक्ति के अनुसार
बारह तपों को करते हैं, कषाय व इन्द्रियरूपी चोरों की समुचित दंड-व्यवस्था में तत्पर
व जितेन्द्रिय हो कर आर्त-रौद्रध्यानों का परित्याग कर देते हैं तथा धर्मरूपी शुक्लध्यानों
के चिन्तन में प्रयत्नशील रहते हैं, शुभलेश्या परिणामवाले हैं, वे धर्म करते हैं। इनके
अतिरिक्त जो कि सम्यकदर्शन को अपने हृदय में हार की तरह धारण किये रहते हैं; ज्ञान
को कुंडल मान कर कानों मे ग्रहण किये हुए हैं, चारित्र को मुकुट (शिरोभूषण) मान कर
मस्तक में बांधे हुए हैं; संसार, शरीर व भोग के विषय में संवेग का सेवन किया करते हैं,
सदैव विशुद्ध आचरण के लिए सद्भावनाओं का चिन्तवन करते रहते है, अहर्निश (दिन-
रात) क्षमा आदि दश प्रकार के लक्षणवाले धर्म का पालन किया करते हैं, तथोक्त धर्म
की पालना के लिये दूसरों को भी धर्म का उपदेश किया करते हैं; वे इन सब कार्यों से तथा
अन्यान्य शुभ आचरणों के द्वारा महान् धर्म का उपार्जन करते हैं। पूर्वोक्त कर्मों के
करनेवाले मुनि हों अथवा श्रावक, सभी भव्य-जीव शुभ-ध्यान के द्वारा मर कर स्वर्ग को
प्राप्त हो जाते है। स्वर्ग सम्पूर्ण इन्द्रिय-सुखों का समुद्र है। वहां दुःख का लेश भी नहीं है।
पुण्यात्मा ही वहां रह सकते हैं। जो कि सम्यक्दर्शन से अलंकृत हैं, वे बुद्धिमान् पुरुष
नियमानुसार 'परमकल्प' नामक स्वर्ग को प्राप्त करते हैं; किन्तु व्यन्तरादि भवनत्रिक

देवों में वे कदापि नहीं उत्पन्न होते। जो अज्ञानी पुरुष अज्ञान तपस्या के द्वारा काय-क्लेश करते हैं, वे व्यन्तरादिक देव-गति को प्राप्त हो जाते हैं। जो कि स्वभावत: कोमल-स्वभावी हैं, सन्तोषी हैं, सदाचार-परिणामी हैं, सदैव मन्दकषायी हैं, सरलचित्त हैं तथा जिनेन्द्रदेव, गुरु, धर्म एवं धर्मात्माओं की प्रार्थना करनेवाले होते हैं तथा और अन्यान्य शुभ आचरणों से अलंकृत रहते हैं, वे उत्तम जीव पुण्योदय के कारण आर्यावर्त्त के किसी उच्च कुल में, राज्य लक्ष्मी इत्यादि के सुखों से युक्त मनुष्यगति को प्राप्त करते हैं। जो जीव उत्तम पात्र को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रेष्ठ आहार-दान करते हैं, वे अपरिमित भोगों को प्राप्त करने के लिये सुख-सामग्रियों से परिपूर्ण भोगभूमि में जन्म ग्रहण करते हैं।

जो मायापूर्ण काम-सेवन से अतृप्त हैं, विकारोत्पादक स्त्री-वेष के ग्रहण करनेवाले हैं, मिथ्यादृष्टी हैं, रागान्ध हैं, शीलता से हीन हैं एवं अज्ञानी हैं; वे मरने पर स्त्री-वेद के उदय होने से स्त्री-पर्याय को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो स्त्रियाँ विशुद्धाचरणवाली होती हैं, मायाचारी कुटिलता से हीन होती हैं; विवेकशील, दान-पूजा आदि शुभ-कर्मों में तत्पर, अल्प विषय-सुख से ही सन्तुष्ट हो जानेवाली एवं दर्शनज्ञान से युक्त होती हैं, वे स्त्रियाँ मर जाने के बाद पुंवेद-कर्म के उदय होने से पुरुष-पर्याय प्राप्त करती हैं। जो विशेषरूप से कामोपभोग में ही लगे रहते हैं, पर-स्त्रियों के पीछे पागल हुए फिरते हैं और सर्वदा (दिन-रात) काम-क्रीड़ा में ही तल्लीन रहते हैं, वे नपुंसकों के चिह्न से युक्त होते हैं। जिन्होंने पशुओं के ऊपर अत्यन्त अधिक बोझ लाद दिया है, मार्ग में चलते हुए अनेक जीवों को बिना देखे ही अपने पैरों तले मार डाला है, कुतीर्थों में पाप-कर्म करने के निमित्त भटकता हुआ अनेक पापों को कमाया है, वे दयाहीन शठ पुरुष मरने के बाद 'अङ्गोपाङ्ग' कर्म के उदय होने से पंगु (लूले) होते हैं। संसार में ऐसे लोगों का तिरस्कार होता है और निन्दा होती है। जिन लोगों ने मूर्खतावश दूसरे के दोषों को बिना जाने ही स्वीकार कर लेने का अपना स्वभाव बना लिया है, ईर्ष्यावश पर-निन्दा सुनने का एक

कार्यक्रम बना रखा है, हेय शास्त्रों की कुत्सित कथाओं को सुनने का अभ्यास-सा बना रखा है तथा केवली शास्त्र-संघ एवं धर्मात्माओं को दोष लगा देने का काम ठान लिया है; वे 'ज्ञानावरण' कर्म के उदय होने के फल से बहरे होते हैं। जो बिना देखे ही दूसरे के दोषों को 'आँखों देखा' बतलाते हैं, कटाक्ष के लिये नेत्रों के विकार उत्पन्न करते रहते हैं, पर-स्त्री के स्तन-भगादि गुप्तांगों को टकटकी बांध कर देखते-देखते भी नहीं अघाते; कुतीर्थ, कुदेव एवं कुलिंगियों का आदर करते हैं; वे दुष्ट नेत्रवाले पुरुष 'दर्शनावरण' कर्म के उदय होने के फल से अन्धे हो कर अत्यन्त दुःखों को भोगते हैं। जो लोग व्यर्थ में ही स्त्री-चर्चा आदि विकथाओं को प्रतिदिन कहा करते हैं; दोषहीन अर्हन्तदेव शास्त्र, सच्चा गुरु तथा धर्मात्माओं में दोष लगाते फिरते हैं; पाप-शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ाते हैं; अपने इच्छानुकूल यश एवं प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिये अस्थिर-चित्त होकर श्रद्धा एवं विनय से रहित हो कर जैन-शास्त्रों को स्वयं बांचते हैं; धर्म-सिद्धान्त के परमोत्तम तत्त्वार्थों को कुतर्कों के द्वारा दूसरों को समझाने की दुश्चेष्टा में तत्पर रहते हैं; वे ज्ञान-रहित मूर्ख 'ज्ञानावरण' कर्म के उदय होने के फल से बोलने में असमर्थ मूक (गूंगे) होते हैं। जो स्वेच्छावश हिंसादि पाँच पाप-कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं; श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये सम्पूर्ण पदार्थों को बिना विचार किये मदोन्मत्त हो कर ग्रहण करने के लिये तत्पर हो जाते हैं तथा देव-शास्त्र, गुरु एवं धर्म के विषय मे सत्यासत्य का भेद न समझ कर समभाव से श्रद्धाशील हो कर उन्हें पूजते रहते हैं; वे 'मति-ज्ञानावरण' कर्म के उदय होने के फल से विकलेन्द्रिय हो जाते हैं। जो व्यक्ति व्यसनशील, मिथ्यादृष्टिवाले पुरुषों से मित्रता करते हैं; साधु-महात्मा पुरुषों से सदैव दूर रहते हैं; वे पाप-परायण हो कर नरकादि गतियों में पर्यटन करते हुए पुनः दुर्व्यसनों में लीन हो कर महान उग्र पापों का उपार्जन करते हैं। जो विषय-सुखों में आसक्त हो कर धर्म-हीन हो जाते हैं और तप, यम, व्रतादि से रहित हो कर विविध भोगों के द्वारा अपने शरीर को पुष्ट किया करते हैं, रात्रिकाल में भी अन्नादि का

आहार करते हैं, अखाद्य (न खाने योग्य) वस्तुओं को भी खा लेते हैं, अकारण ही अन्य जीवों को क्लेश दिया करते हैं, वे निर्दयी पापी 'असातावेदनीय' कर्म के उदय होने के कारण रोगी हो कर अनेक रोगों की उग्र वेदना से व्याकुल होते हैं।

जो अपने शरीर की मोह-ममता छोड़ कर तपरूपी धर्माचरण में लीन रहते हैं; वे अन्य सब जीवों को अपने ही समान जान कर कदापि उन्हें नहीं सताते हैं। वे–'यह अपना है, यह पराया है'–ऐसा नहीं कहते फिरते और शुभ-कर्मों के उदय से दुःख, शोक एवं रोग-रहित हो कर सुख-शान्ति को प्राप्त करते हैं। जो अपने शरीर को अलङ्कार इत्यादि से सजाने की आवश्यकता नहीं समझते और तप, नियम एवं योग इत्यादि से कायक्लेशरूपी व्रत किया करते हैं तथा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जिनेन्द्रदेव तथा महात्मा योगियों के चरणारविन्द की सदैव सेवा करते हैं; वे शुभ-कर्मोदय के प्रभाव से अलौकिक रूप गुण एवं लावण्य से सुशोभित होते हैं। जो पशुओं के समान अज्ञानी हैं; वे शरीर को अपना समझ कर सदैव स्वच्छ एवं सुन्दर बनाने की चेष्टा में लगे रहते हैं, अनेक प्रकार के आभूषणों से उसको सजाते हैं और शुभ-प्राप्ति की अभिलाषा से कुगुरु, कुदेव एवं कुधर्म की चाटुकारिता में व्यस्त रहते हैं; वे अशुभ-कर्म के उदय से भयानक कुरूप होते हैं। जो जिनेन्द्रदेव, जैन-शास्त्र एवं निर्ग्रन्थ योगियों की भक्ति में अहर्निश तत्पर रहते हैं; तप, धर्म, व्रत एवं नियमादि के पालन में दत्तचित्त रहते हैं; देह की ममता का परित्याग कर समस्त इन्द्रिय-रूपी महा बलवान राक्षसों को जीत लेते हैं; वे सौम्य-कर्म के उदय से सब के नयनाभिराम होते हैं एवं भाग्यशाली कहे जाते हैं। जो अपने रूप-लावण्य आदि के अभिमान में मुनियों के मलयुक्त शरीर को देख कर उनसे घृणा करते हैं; पर-स्त्री की अभिलाषा में रत रहते हैं; असत्य बोल कर अपने पारिवारिक बन्धुओं से द्वेष मान बैठते हैं; वे 'दुर्भग' नाम-कर्म के उदय से सर्वनिन्दनीय दुर्भग (दरिद्र) होते हैं। जो दूसरों को धोखा दे कर ठगा करते हैं; ठगने के लिये दूसरों को सलाह देते हैं; देव, गुरु एवं शास्त्र के विषय में बिना तथ्यातथ्य

का निर्णय किये ही, अपना धर्म समझ कर उनकी पूजा-भक्ति में तत्पर रहते हैं, वे 'मति-
ज्ञानावरण' कर्म के उदय होने से निन्दनीय, कुबुद्धि और मूर्ख होते हैं। जो तप आदि धर्म
कार्यों मे अन्य लोगों को अपनी इच्छानुसार सलाह दिया करते हैं; अतत्त्व एवं तत्त्वों का
विचार विनयपूर्वक किया करते हैं तथा इसके बाद साररूप धर्मादि वस्तुओं का ही ग्रहण
किया करते हैं; सांसारिक समस्त वस्तुओं का परित्याग कर देते हैं; वे सुयोग्य एवं चतुर
पुरुष श्रेष्ठ 'मतिज्ञानावरण' के क्षयोपशम के कारण महा 'विद्वान् हो जाते हैं। जो दुष्ट-
प्रकृति पुरुष ज्ञानाभिमानवश पढ़ाने योग्य व्यक्तियों को भी नहीं पढ़ाते हैं, जानते हुए भी
जघन्य कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं; कल्याणकारक जिनागम को छोड़ कर अन्य कुशास्त्रों की
विद्या को पढ़ते हैं तथा शास्त्र-निन्दित, कटु, परपीड़क एवं धर्महीन असत्यपूर्ण वचनों को
बोला करते हैं; वे 'श्रुतज्ञानावरण' कर्म के फल से अत्यन्त निन्दनीय और महामूर्ख होते हैं।
जो लोग स्वयं तो श्री जिनागम को सदैव पढ़ते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी पढ़ाते हैं तथा
काल इत्यादि आठ प्रकार की विधियों से जैन-शास्त्रों का व्याख्यान किया करते हैं;
धार्मिक उपदेश के द्वारा अनेक भव्य जीवों को ज्ञान प्रदान करते रहते हैं एवं स्वयं भी
निशिदिन धर्म-कार्य में तत्पर रहते हैं, कल्याणकारी सत्य वचनों को कहते हैं, असत्य वचन
का प्रयोग कदापि नहीं करते; वे श्रुतज्ञानावरण-कर्म के मन्द हो जाने से जगदादरणीय
विद्वान् हो जाते हैं। जो लोग इस संसार, शरीर एवं सम्पूर्ण भोगों से विरक्त हो कर
जिनेन्द्रदेव तथा गुरु के श्रेष्ठ वचनों के प्रभाव से उत्तमोत्तम गुणों का एवं परम-धर्म का
अपने मन में निरन्तर चिन्तवन किया करते हैं, आर्जव-धर्म के अतिरिक्त कुटिलता इत्यादि
को अपने हृदय में कदापि स्थान नहीं देते; वे शुभ-कार्यों के करने के कारण 'शुभ-
परिणामी' कहे जाते हैं।

जो कुटिल परिणामी, पर-स्त्री-हरण आदि के विषय में निरन्तर विचार किया करते
हैं, पुण्यात्माओं का अकल्याण चाहते रहते हैं, मूर्खों के जघन्य आचरणों को देख कर मन

ही मन प्रसन्न हुआ करते हैं; वे अशुभ-कर्मोदय से पापार्जन के लिये 'अशुभ-परिणामी' होते हैं। जो तप, व्रत एवं क्षमा प्रभृति से, श्रेष्ठ पात्र-दान एवं पूजा इत्यादि से तथा दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र से सर्वदा धर्म-तत्पर रहते हैं; वे सम्यक्‌दृष्टी स्वर्गादि के उत्तम सुख-भोगों को भोग चुकने के बाद पुण्योदय से उच्च पद की प्राप्ति की अभिलाषावश धर्म कार्यों को करने वाले धर्मात्मा होते हैं। जो लोग हिंसा और असत्य सम्भाषणादि के द्वारा पाप-कर्म किया करते है, अपनी दुर्बुद्धि के कारण विषय-सुखों में लीन होकर मिथ्यात्वी देवादिकों की भक्ति में श्रद्धा रखते हैं; वे नरकादि स्थानों में चिरकाल रह कर अनेक यन्त्रणाओं को भोगते हैं। इसके बाद भी पापोदय से पुनः नरक-निवास पाने के लिये पाप-कर्म में प्रवृत्त रह कर पापी ही बने रहते हैं। इसके विपरीत जो लोग परम भक्तिपूर्वक प्रत्येक दिन उत्तम पात्रों को आहारादि का दान करते हैं; श्री जिनेन्द्रदेव, गुरु एवं जैन-शास्त्रों की श्रद्धापूर्वक पूजा स्तुति किया करते हैं; वे धर्म-कार्यों के प्रभाव से उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियों को प्राप्त करते हैं। धर्म-सिद्धि के निमित्त जो लोग भाग्य से प्राप्त धन-सम्पत्ति को ठुकरा देते हैं, स्थिर-चित्त होकर धर्म-साधना में प्रवृत्त रहते हैं; वे भी अन्त में परमोत्तम भोग्य सम्पदाओं को प्राप्त करते हैं। जो अपने अन्यायपूर्ण कार्यों के द्वारा सुख-भोगों की अभिलाषा करते हैं, भोगोपभोग के बाद भी असन्तुष्ट ही रह जाते हैं; स्वप्न में भी जिनेन्द्रदेव की पूजा और उत्तम पात्र-दान नहीं करते तथा लोभवश लक्ष्मी को पा लेना चाहते हैं; वे धर्म-व्रत से हीन होने के कारण पाप के भयङ्कर फलों से दुःखित होते हैं और अनेक जन्म पर्यन्त धन-हीन दरिद्र होते हैं। जो लोग पशु, पक्षी और मनुष्यों का अपने बाल-बच्चों से एवं बन्धु-बान्धवों से वियोग उत्पन्न करा देते हैं तथा दूसरों की स्त्री, धन और अन्यान्य वस्तुओं को बलपूर्वक हड़प लेते हैं; वे दुःशील पापात्मा अशुभ-कर्म के उदय से निश्चयरूपेण अपने पुत्र, स्त्री, भाई और अन्य इष्ट-जनों से भी वियोग हो जाने के कारण समय-समय पर दुःख भोगते हैं। इसके प्रतिकूल जो लोग पशु आदि जीवों की ताड़ना इत्यादि नहीं करते

और उनके परस्पर वियोग के कारण नहीं बनते, वे कदापि दुःखों को प्राप्त नहीं हो सकते। जो सन्नद्ध हो कर सर्वदा जैन-मतानुकूल ही जैनियों का पालन उनकी अभिलसित सम्पति के द्वारा करते हैं; दान, पूजा और धर्मानुष्ठान विधिपूर्वक करते हैं तथा इस पुण्य के फलस्वरूप मोक्ष के अतिरिक्त अन्य और किसी प्रकार से स्त्री, पुत्र, धनादि की किंचित्-मात्र भी इच्छा नहीं करते; उन पुण्यात्माओं के पुण्योदय से अभीष्ट स्त्री, पुत्र एवं स्वजनादि का संयोग अपने-आप ही अप्रत्याशित रूप से हो जाता है तथा धन इत्यादि सुख सम्पदाएँ भी स्वयं ही प्राप्त हुआ करती हैं।

जो धर्मप्रिय पात्रों को दान किया करते हैं; जिन-प्रतिमा, जिन-मन्दिर, जैन-विद्यालय आदि की संस्थापना में धर्म-सिद्धि की इच्छा से श्रद्धापूर्वक धन व्यय किया करते हैं; उनकी दानशीलता प्रसिद्ध हो जाती है। इस लोक में तो वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते ही हैं; परलोक में भी उनका कल्याण होता है। जो कृपणतावश इस लोक में दान नहीं देते, जिन-पूजा इत्यादि मे भी मुक्तहस्त हो कर धन-व्यय नहीं करते, अपितु जगत् की परमोत्तम सुख-सम्पत्ति को स्वयं ही भोगना चाहते हैं; वे महालोभी और अज्ञानी हैं। पाप-कार्य के प्रभाव से चिरकाल वे निम्नगति में भटक चुकने के बाद तिर्यञ्चगति में जाने के लिये कृपण (कंजूस) हो कर उत्पन्न होते हैं। इस पाप-कार्य के प्रतिकूल जो लोग अर्हन्त, गणधर आदि मुनि एवं अन्यान्य धर्मात्माओं के उत्तम गुणों को प्राप्ति के लिये सदैव उनका चिन्तवन किया करते हैं, वे सम्पूर्ण दोषों से दूर रहते हुए श्रेष्ठ गुणवान् हो जाते हैं और विद्वन्मंडली में उनका आदर सम्मान होता है। जो लोग स्वभाववश मूढ़ होने के कारण गुणी पुरुषों के श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण न कर के, दोषों को ही ग्रहण करते हैं, गुणरहित कुदेव इत्यादि के फल-हीन गुणों का स्मरण करते रहते हैं और मिथ्यामार्गी, आडम्बरयुक्त, पाखंडियों के दोषों को कुछ भी नहीं समझ पाते; वे इस संसार में निर्गन्ध फूल के समान गुणहीन हैं। जो धर्म-जिज्ञासु हो कर धर्म-प्राप्ति के लिये, मिथ्यादृष्टी देवों की एवं केवल वेषधारी अज्ञानी

साधुओं की सेवा-भक्ति में तत्पर रहते हैं तथा श्री जिनेन्द्र, श्रेष्ठ योगी एवं धर्मात्मा पुरुषों की सेवा कदापि नहीं करते, वे अपने पाप के फल से पशुओं के समान पराधीन हो कर इधर-उधर दूसरों की दासता करते फिरते हैं। इसके विपरीत जो सम्पूर्ण मिथ्यामतों को छोड़ कर मानसिक, वाचनिक एवं कायिक शुद्धिपूर्वक अर्हन्त एवं गणधर आदि मुनियों की पूजा-स्तुति-नमस्कार किया करते हैं; वे पुण्योदय से इस संसार में सम्पूर्ण अतुलित भोग-सम्पदाओं के स्वामी होते हैं। जो दयाहीन, व्रत इत्यादि न कर के, अपने पुत्र-पौत्रादि की वंशवृद्धि के लिये अन्य जीवों के पुत्रों का बध कर डालते हैं तथा इसी प्रकार के और भी बहुत से मिथ्यात्व क्रियाओं को कर डालते हैं, उनके मिथ्यात्व-कर्म के प्रभाव से अल्पायु पुत्र उत्पन्न होते हैं और उन मिथ्यात्वी पापियों के पुत्रों का विनाश बहुत शीघ्र हो जाया करता है। जो चंडी, क्षेत्रपाल, गौरी, भवानी इत्यादि मिथ्यात्वी देवों की सेवा-अर्चा, पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से करते हैं और सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करनेवाले अर्हन्त प्रभु की सेवा नहीं करते, वे मिथ्यात्व-कर्म के उदय से जन्म-जन्म में सन्तानहीना बन्ध्या स्त्रियों को प्राप्त करते हैं। जो दूसरे पुरुषों के पुत्रों को भी अपना ही पुत्र समझ कर कदापि नहीं मारते, बल्कि प्यार करते हैं; मिथ्यात्व को शत्रु के समान जान कर छोड़ देते हैं एवं अहिंसा आदि व्रतों का सेवन करते हैं, अभीष्ट प्राप्ति के लिये जिनेन्द्र, सिद्धान्त एवं योगियों की पूजा करते हैं, उनके शुभ-कर्म के उदय से अलौकिक रूप-लावण्यवाले एवं दीर्घायु पुत्र उत्पन्न होते हैं। जो प्राणी तप, नियम, उत्तम ध्यान, काय-क्लेश आदि धर्म-कार्यों को कठिन समझ कर दीक्षा लेने में अपने को असमर्थ समझ कर डरते हैं, वे इस लोक से पापोदय के कारण सम्पूर्ण कार्यों में असमर्थ (कायर) हो कर उत्पन्न होते हैं तथा जो लोग साहसपूर्वक तप, ध्यान, अध्ययन, योग एवं कायोत्सर्ग इत्यादि महा कठिन धर्म-कार्यों के अनुष्ठान में धीर चित्त हो कर तत्पर रहते हैं तथा अपनी शक्ति के अनुसार कर्म-रूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालने के लिये अनेक कष्टों एवं परीषहों को सह्य कर लेते हैं, वे

धैर्यधारी पुरुष पुण्योदय के प्रभाव से सकल कार्यों को कर डालने की क्षमता रखते हैं।

जो जड़मति जीव जिनेन्द्रदेव, गणधर, जैन-शास्त्र, निर्ग्रन्थ मुनि, श्रावक एवं धर्मात्माओं की निन्दा करने में दत्तचित्त रहते हैं तथा पापी, मिथ्या-देव, मिथ्या-शास्त्र एवं मिथ्या-साधुओं की प्रशंसा किया करते हैं, वे अनेक दोषों से युक्त होते हैं और अपयश-कर्म के उदय से त्रैलोक्य में निन्दनीय होते हैं। जो लोग दिगम्बर गुरु, ज्ञानी, गुणी, सज्जन एवं सुशील पुरुषों की सेवा, भक्ति एवं पूजा अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा सदैव किया करते हैं तथा सम्पूर्ण व्रतों का आचरण करते हुये अपने मन, वचन एवं काय से शील की रक्षा में तत्पर रहते हैं; वे धर्म-फल से स्वर्ग एवं मोक्ष को प्राप्त कर के शीलवान हो कर उत्पन्न होते हैं। जो लोग दुःशील, दुष्ट, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु एवं पाप-परायण पुरुषों की सेवा, पूजा एवं उन्हें नमस्कार किया करते हैं, वृत-विधि से हीन हैं, सदैव विषय-सुखों की ही कामना किया करते हैं; वे अशुभ-कर्म के उदय से पाप-परायण एवं दुःशील होते हैं। इसके विपरीत जो लोग उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हो कर गुणाकर एवं ज्ञानवान् गुरु, जैन यति तथा सम्यक्‌दृष्टी पुरुषों के सत्संग में सदैव तत्पर रहते हैं, जन्म-जन्म में स्वर्ग एवं मोक्ष को प्राप्त करानेवाले गुणी महात्माओं का सत्संग उन्हें मिला करता है और जो लोग श्रेष्ठ सज्जनों का अनादर एवं उपेक्षा कर दुर्गुणों में आ कर मिथ्यात्वियों के दुःसंग में फंसे रहते हैं, वे नीचगति को प्राप्त होते हैं तथा दुर्जन-संसर्ग के कारण बराबर अधोगति (कुसंगति) में पड़े रहते हैं। जो लोग तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सदैव तत्व-अतत्व, शास्त्र-कुशास्त्र देव-गुरु-तपस्वी, धर्म-अधर्म, दान-कुदान का विश्लेषण एवं विचार किया करते हैं, उनके हृदय मे सूक्ष्म विचार की एक श्रेष्ठ शक्ति वर्तमान रहती है। वे परलोक में भी देवों की परीक्षा करने में प्रवृत्त हो कर सफलता पा लेते हैं। जो जीव ऐसा विश्लेषण नहीं करते और दुर्बुद्धि के कारण संसार के सभी देव-गुरुओं को आदरणीय, श्रद्धास्पद, अनिन्द्य, वन्दनीय एवं धर्म-मोक्षदायक समझ कर सभी

धर्म एवं देवों का आश्रय ले कर सभी का अनुसरण करने के प्रयास में तत्पर रहते हैं, वे अत्यन्त निन्दनीय हैं और जन्म-जन्म में मूढ़ होते हैं। जो आर्य नित्यप्रति तीर्थङ्कर, गुरु, संघ, उच्च-पदवी प्राप्त जीवों की भक्तिपूर्वक सेवा करते हैं, स्तुति करते हैं और नमस्कार करते हैं तथा अपनी प्रशंसा न कर के गुणियों के दोषों को छिपा कर उनकी श्रेष्ठता को ही प्रकट किया करते हैं, वे उच्च 'गोत्र-कर्म' के उदय से परलोक में सर्वोत्तम गोत्र को प्राप्त करते हैं तथा जो लोग इसके प्रतिकूल आत्म-प्रशंसा एवं गुणी पुरुषों की निन्दा में लगे रहते हैं और कुगुरु, कुधर्म एवं नीच देव की सेवा, धर्म-प्राप्ति की अभिलाषा से किया करते हैं, वे नीच-कर्म के उदय से नीच-गोत्र को प्राप्त करते हैं। जिन दुर्बुद्धियों का झुकाव मिथ्या-मार्ग में है और जो एकान्तरूप निन्द्य-मार्ग में स्थित हो कर कुगुरु, कुदेव एव कुधर्म की सेवा में जुटे रहते हैं, उन्हें पूर्व-जन्म के कुसंस्कार से ही, परलोक के कल्याण को नष्ट कर देनेवाले मिथ्यामत की ओर प्रीति उत्पन्न हो जाती है। जो दिव्यदृष्टि से जिनेन्द्र, शास्त्र, गुरु एवं धर्म की सूक्ष्म परीक्षा कर चुकने के बाद उनके अपूर्व गुणों पर मुग्ध हो जाते हैं तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी सेवा में तत्पर रहते हैं और हेय-मार्ग पर चलनेवाले अन्य पुरुषों की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते, वे वास्तविक जिन-धर्म के अनुरागी हैं और वे परलोक में भी मोक्ष-पथ पर ही अग्रसर होते जाते हैं। जो लोग स्वर्ग एवं मोक्ष की अनन्य अभिलाषा से परिग्रहहीन हो कर व्युत्सर्ग तथा मौन-व्रतरूप 'योगगुप्ति' का यथा-शक्ति अनुसरण किया करते हैं तथा तप इत्यादि श्रेष्ठ धर्म-कार्यों में अपनी शक्ति की वास्तविक स्थिति का सदुपयोग करते हैं, वे कठिन तपस्या के उग्र कष्टों को सहन करने में पूर्ण समर्थ, दृढ एवं सुन्दर शरीर को प्राप्त करते हैं। जो तपस्या में सक्षम एवं शक्तिशाली हो कर भी केवल काय-सुख में आसक्त रहते हुये उसका दुरुपयोग करते हैं और अपने बल एवं शक्ति को धर्म तथा व्युत्सर्ग तप में नहीं लगाते, वे कोटि-कोटि गृह-व्यापारों से पाप ही कमाया करते हैं और तप-कर्म में असमर्थ उनका शरीर नितान्त निन्दनीय होता है। इस

प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव महावीर प्रभु ने उपस्थित समस्त प्राणियों के सामने दिव्य गम्भीर एवं मधुर वाणी से गणधर गौतम स्वामी के प्रश्नों का युक्तियुक्त, वास्तविक एवं सार्थक उत्तर प्रदान किया। उन अर्हंतदेव श्री महावीर प्रभु की मैं श्रद्धा-भक्तिपूर्व स्तुति करता हूं।

अष्टादश प्रकरण

मुक्ति प्रदायक ज्ञानमय, समोशरण आसीन। करे धर्म-उपदेश को, कर्म-बन्ध से हीन ॥

पूर्व अधिकार मे गणधरदेव गौतम स्वामी के कई प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दे कर श्री महावीर प्रभु ने कहा—गौतम। तुम बहुत बुद्धिमान् मालूम पड़ते हो, इसलिये अब मैं तुम्हें मुक्ति-मार्ग को कहता हूं, अन्यान्य प्राणियों के साथ तुम भी सावधानीपूर्वक सुनो। मेरे बताये रास्ते पर चलने से मनुष्यों को निश्चयरूपेण मोक्ष प्राप्त हो जाता है। जो शङ्का इत्यादि दोषों से हीन है और निःशङ्कादि गुणों से युक्त तत्वार्थों का श्रद्धान है, वह व्यवहार सम्यक्दर्शन है और मोक्ष का एक अङ्ग है।

इस संसार में अर्हन्त से बढ़ कर कोई उत्कृष्ट देव नहीं, निग्रन्थ से बढ़ कर महत्वशाली गुरु नहीं, अहिंसा आदि पञ्च व्रतों से उत्तम अन्य कोई व्रत नहीं, जिनमत से श्रेष्ठ कोई मत नहीं, सब के हृदय को प्रकाशित करनेवाला ग्यारह अङ्ग व चौदह पूर्व से बढ़ कर दूसरा कोई शास्त्र-ज्ञान नहीं, सम्यक्दर्शन आदि रत्नत्रय से बढ़ कर दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग नहीं और पाँच परमेष्ठियों से बढ़ कर भव्य-जीवों के लिये दूसरा कोई कल्याणकारी एवं हितकारी नहीं हो सकता। इसी तरह उत्तम पात्र-दान से श्रेष्ठ अन्य प्रकार का कोई भी दान मोक्ष का कारण नहीं है। केवलज्ञान को देनेवाले आत्म-ध्यान से बढ़ कर दूसरा कोई भी उत्कृष्ट ध्यान नहीं है। साधु, महात्मा एवं ज्ञानी धर्मात्माओं की प्रीति ही धर्म एवं सुख को प्रदान करनेवाली है, अन्य किसी की प्रीति से धर्म-सुख नहीं प्राप्त हो सकता। बारह प्रकार के तपों के फल से ही कर्मों का नाश होता है, अन्य किसी तप से ऐसा नहीं होता।

स्वर्ग एवं मोक्ष को देनेवाला पञ्च नमस्कार महामन्त्र ही है, इसके अतिरिक्त ऐसा प्रभावशाली कोई अन्य मन्त्र नहीं है। इस लोक और परलोक में कर्म एवं इन्द्रियों के समान भीषण दुःख देनेवाला और कोई दूसरा नहीं है। ऐ गौतम ! तू इन सब को सम्यक्दर्शन का मूल कारण जान ले। यह ज्ञानदर्शन एवं चारित्रदर्शन का प्रधान कारण है, मोक्षरूपी महल का सोपान (सीढ़ी) है और व्रत इत्यादि का मूल स्थान है। इस सम्यक्दर्शन के बिना सब ज्ञान अज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है एवं सम्पूर्ण तप निष्फल हो जाता है। इस बात को दृढ़ता से समझ कर निःशङ्कादि गुणों के द्वारा शङ्का, मूढ़ता इत्यादि मलावरणों को एकदम हटा कर चन्द्रमा के समान अति स्वच्छ सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा इन्हें प्राप्त कर लेने पर अविचल भाव से दृढ़ रहना चाहिये। सज्जन पुरुषों को तत्वार्थों अर्थात् पदार्थों का ज्ञान वैपरीत्य से हीन यथार्थतया प्राप्त करना चाहिये। इसी को 'व्यवहार-सम्यक्ज्ञान' कहते हैं। इस उत्तम ज्ञान के ही द्वारा धर्म-अधर्म, हित-अहित एवं बन्ध-मोक्ष का यथार्थ बोध होता है और देव, धर्म एवं गुरु की भी गुण-परीक्षा इसी ज्ञान के द्वारा होती है। जो ज्ञान से हीन हैं, वे अन्धे के समान हैं और वे प्राणी हेय-उपादेय, गुण-दोष, कृत्य-अकृत्य, तत्व-अतत्व इत्यादि की यथार्थ विवेचन में एकदम असमर्थ होते हैं। इसलिये स्वर्ग एवं मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा रखनेवालों को चाहिये कि यत्नपूर्वक प्रति-दिन जैन-शास्त्रों का अध्ययन किया करें। हिंसादि पाँच प्रकार के पापों का सर्वदा एवं सर्वतोभावेन त्याग तथा तीन गुप्ति एवं पाँच समिति के पालन को ही 'व्यवहार-चारित्र' कहते हैं। यह भोग एवं मोक्ष का देनेवाला है। इसे सम्पूर्ण कर्मास्रवों का अवरोधक (रोकनेवाला), प्रत्येक फलों का देनेवाला एवं सर्वोत्कृष्ट समझा गया है। कर्मों के संवर के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। उत्तम चारित्र के बिना कोटि-कोटि काय-क्लेशों के द्वारा किया गया तप भी व्यर्थ ही है। इसके बिना कर्मों का संवर नहीं हो सकता, संवर के बिना मुक्ति नहीं हो सकती और उस मोक्ष के बिना भला, अक्षय परम सुख कैसे प्राप्त

किया जा सकता है? दूसरों की तो बात ही कौन चलाये, स्वयं त्रैलोक्यपूज्य एवं देववन्द्य तीर्थङ्कर प्रभु चारित्र के बिना मुक्तिरूपिणी स्त्री के मुखारविन्द का दर्शन नहीं कर सकते। जिस तरह दन्त के बिना वृहत्काय हाथी की शोभा नष्ट हो जाती है, उसी तरह चारित्र के बिना मुनि भी शोभा नहीं पा सकते। बहुत दिनों तक दीक्षा-विधि पालनेवाले हैं, सब में श्रेष्ठ हैं और अनेक शास्त्रों के ज्ञाता हैं, तो क्या हुआ? चारित्र के बिना वे नगण्य ही हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को चन्द्रमा के समान अति स्वच्छ चारित्र को धारण करना चाहिये तथा उपसर्ग एवं परीषहों से दुःखी हो कर चारित्र का परित्याग स्वप्न में भी कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये व्यवहार रत्नत्रय के साधक हैं, भव्य-जीवों के लिये सर्वार्थ-सिद्धि तक महान् सुखों के देनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अनुपमेय हैं, लोकवन्द्य हैं और भव्य-जीवों के परम हितैषी हैं।

जो असंख्येय गुणों का समुद्र है, आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान है और कल्पनाहीन है— वह 'निश्चय-सम्यक्त्व' है। परमात्मा के अन्तरङ्ग (भीतर में) जो ज्ञान है और जो संवेदन (अपने ही आप) ज्ञान से जानने के योग्य है, वह 'निश्चय-ज्ञान' है। वाह्य (बाहर के) और आभ्यन्तर (भीतर के) सम्पूर्ण विकल्पों को छोड़ कर अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप में जो रमण करता है, उसी को 'निश्चय-चारित्र' कहा जाता है। ये निश्चयरूपी तीनों रत्न सम्पूर्ण वाह्य चिन्ताओं से हीन हैं, विकल्प-रहित हैं और ऐसा होने के ही कारण भव्य-जीवों को निःसन्देहरूपेण मोक्ष देने वाले हैं। व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय मिल कर दो प्रकार के विशाल मोक्ष-मार्ग हैं और मोक्षरूपी महासम्पत्ति को देनेवाले हैं। मोक्षाभिलाषी भव्य-जीवों को चाहिये कि मोहरूपी फन्द (फांसी) को तोड़ कर सदैव इन दोनों रत्नत्रयों का स्थिर भाव से आचरण करते रहें। इस संसार के जितने भी भव्य-जीव मोक्ष को प्राप्त करने की चेष्टा में क्रियाशील हैं, वे इन दोनों रत्नत्रयों का पालन किये बिना सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों काल में इन्हीं दोनों

रत्नत्रयों के द्वारा मोक्ष मिला है, मिल रहा है और मिलेगा। इसके अतिरिक्त कोई और अन्य उपाय हो नहीं सकता। धर्म दो प्रकार का है—श्रावक-धर्म और मुनि-धर्म। श्रावक-धर्म तो कोई कठिन नहीं—सुगम है; किन्तु मुनि-धर्म तो अत्यन्त कठोर है। श्रावक-धर्म की ग्यारह प्रतिमाएँ (श्रेणियाँ) होती हैं। जो द्यूत (जुआ) आदि सात प्रकार के व्यसनों से हीन है, आठ मूल गुणों से युक्त है और अति स्वच्छ सम्यक्‌दर्शन से परिपूर्ण है, उसको 'दर्शन-प्रतिमा कहते हैं और यही पहली है। इसके बाद दूसरी 'व्रत-प्रतिमा' है। पाँच अण्-व्रत, तीन प्रकार के गुण-व्रत एवं चार प्रकार के शिक्षा-व्रत—इस तरह बारह व्रत हैं। जिस व्रत में मन, वचन एवं काय के द्वारा कृतकारितानुमोदन और प्रयत्नपूर्वक त्रस जीवों की रक्षा की जाय वह 'अहिंसा' नाम का पहला अणुव्रत है। यह अहिंसा अणुव्रत सम्पूर्ण जीवों की रक्षा और सम्पूर्ण व्रतों में मूल है, श्रेष्ठ गुणों का आगार है एवं धर्म का आदि कारण—मूल बीज है। स्वयं जिनेन्द्र प्रभु ने यह बताया है। जिस व्रत में असत्य एवं निन्द-नीय वचनों का घृणापूर्वक परित्याग है एवं हितकारक, साररूपी धर्म के आगार सत्य वचनों को कहा जाता है, उसको 'सत्य' अणुव्रत कहते हैं और यह दूसरा है। सत्य वचन बोलने से संसार में स्वच्छ कीर्ति का विस्तार होता है। सरस्वती, कला, विवेक एवं चातुर्य की अभिवृद्धि होती है। यदि कदाचित दूसरे का धन, बिना जाने ही कहीं गिर गया है, भूल से छूट गया है, ग्राम के किसी गुप्त स्थान में रखा है, तो ऐसे धन को ग्रहण नहीं करना 'अचौर्य' नाम का अणुव्रत है और यही तीसरा है। जो लोग दूसरे के धनों को चुरा लिया करते हैं, वे पाप-कर्म के उदय से इसी लोक में बध-बन्धादि दुःखों को प्राप्त करते हैं और दूसरे जन्मों में भी नरक आदि की यन्त्रणाओं को भोगते हैं। जिस व्रत में अपनी स्त्री के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों को सर्पिणी की तरह त्याज्य समझ कर उनसे अलग रहा जाता है तथा अपनी विवाहिता स्त्री से ही सन्तुष्ट रहा जाता है, उसे 'ब्रह्मचर्य' नाम का अणुव्रत कहते हैं और यह चौथा है। खेत, गृह, धन, धान्य, दासी, दास, पशु, आसन-शैय्या, वस्त्र

और पात्र—ये दस वाह्य परिग्रह हैं। इन परिग्रहों की संख्या नियमित करना तथा लोभ और तृष्णा को त्यागने के लिये जिस व्रत का विधान है, उसको 'परिग्रह-परिमाण' नामक अणुव्रत कहते हैं और यह पांचवाँ है। इस परिग्रह-परिमाण के करने से आशा और लोभ का नाश होता है; सन्तोष, धर्म और सुख-सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं। दसों दिशाओं मे आने-जाने के लिये जो योजनादि मार्ग-परिमाण या मर्यादा स्थिर की जाती है, वह 'दिग्व्रत' नाम का प्रथम गुणव्रत है। तथापि अनेक कार्यों के अकारण ही आरम्भ करने को बन्द कर देना 'अनर्थ-दण्डव्रत' नाम का दूसरा गुणव्रत कहा गया है। इस अनर्थ-दण्ड-व्रत के पाँच भेद हैं—पापोपदेश, हिंसा-दान, अप-ध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्य्या। जो इन्द्रियरूपी पाँच शत्रुओं को जीतने के लिये भोग्योपभोग्य वस्तुओं का परिमाण निश्चित किया जाता है, वह 'भोगोपभोग-परिमाण' नाम का तीसरा गुणव्रत कहा जाता है। पाप-नाशपूर्वक व्रत-परिचालन के लिये पाप-भीरु व्रतियों के लिये सूक्ष्म जीववाले अदरख इत्यादि कन्द त्याज्य हैं। इसी तरह कीड़ों के खाये फलों को, फूलों को और सम्पूर्ण अभक्ष्य वस्तुओं को विष और मलादि वस्तुओं से व्याप्त समझ कर छोड़ देना चाहिये।

घर, टोला, पड़ोस, खेत, मुहल्ला और बाजार इत्यादि स्थानों में आने-जाने के नित्यशः परिमाण को निश्चित कर लेना 'देशावकाशिक' शिक्षाव्रत है। बुरे ध्यान तथा बुरी लेश्याओं का परित्याग कर के प्रतिदिन तीनों समय में जो सामायिक-जाप किया जाता है, उसे 'सामायिक' शिक्षाव्रत कहते हैं। अष्टमी और चतुर्दशी (चौदश) के दिन अन्य सब कार्यों को छोड़ कर नियमपूर्वक जो व्रत उपवास किया जाता है, उसको 'प्रोषधोपवास' शिक्षाव्रत कहते हैं। नित्यप्रति भक्तिपूर्वक मुनियों को जो चार प्रकार का आहार-दान विधि के साथ दिया जाता है, उसको 'अतिथिसंविभाग' नामक शिक्षाव्रत कहते हैं।

इस प्रकार मन, वचन और काय की शुद्धि हो जाने पर, अतीचार यानी दोषों से रहित

द्वितीय 'वृत-प्रतिमा' होती है। जो लोग अणुवृत को धारण किया करते हैं, उनको मृत्यु-समय में आहार और कषायादि को छोड़ कर उन्नत पद पाने की इच्छा से मुनि-चारित्र धारण कर लेना चाहिये। श्रद्धा और विश्वासपूर्वक सल्लेखना वृत का पालन करना चाहिये। इसके बाद तीसरी प्रतिमा का नाम 'सामायिक-प्रतिमा' है और चतुर्थ प्रतिमा का नाम 'प्रोषधोपवास-प्रतिमा' है। फल, बीज, पत्ते, जल इत्यादि प्रायः सभी वस्तुएँ जीव से युक्त हैं। दया-धर्म पालन करने के लिये इसका परित्याग करना 'सचित्त-त्याग-प्रतिमा' नाम की पाँचवीं प्रतिमा है। मुक्ति के लिये रात्रि समय में चारों प्रकार के आहारों का परित्याग कर देना और दिन के समय मैथुन का परित्याग कर देने को 'षष्ठम् प्रतिमा' कहते हैं। जो इन पूर्वोक्त छः प्रतिमाओं का पालन करते हैं और मन, वचन तथा काय की शुद्धि कर लेते हैं, ऐसे जीवों को मुनीश्वरों ने 'जघन्य श्रावक' कहा है और ये श्रावक स्वर्ग में जाते हैं। जो कि स्त्री-जाति मात्र को अपनी माता समझ कर अहर्निश ब्रह्म-स्वरूप आत्मा में ही लीन रहते हैं, वह सप्तम 'ब्रह्मचर्य-प्रतिमा' है। पाप-भीरु पुरुषों के द्वारा अत्यन्त निन्दनीय और अशुभ व्यापार, ग्रहण आदि का परित्याग कर देना अत्यन्त उत्तम 'आरम्भ-परित्याग' नाम की अष्टम प्रतिमा कही गयी है। केवलमात्र वस्त्रों को छोड़ कर पाप-कर्म को आरम्भ करनेवाले अन्य समस्त परिग्रहों का जो त्याग मानसिक, वाचनिक और कायिक शुद्धिपूर्वक किया जाता है, उसको 'परिग्रह-परित्याग' नामक नवमी प्रतिमा कही गयी है। जो विरक्त जीव इन नवों प्रतिमाओं का पालन किया करता है, वह देवपूज्य श्रावक कहलाता है। जो गृह-कार्य इत्यादि में, अपने आहार में, धनोपार्जन में मन्त्रणा-गुप्ति से अपना मत नहीं प्रकट करते, उसके दसवीं 'अनुमति-त्याग' नाम की प्रतिमा होती है। जो दोषयुक्त अन्नाहार को, अभक्ष्य वस्तुओं की तरह त्याग देते हैं और भिक्षा-भोजन ही स्वीकार कर लेते हैं, वह एकादश 'उद्दिष्ट-त्याग' नाम की प्रतिमा कही गयी है। इन उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओं का विविध उपायों द्वारा प्रतिदिन जो सेवन करते

हैं, वे त्रिलोकी के पूज्य 'उत्कृष्ट श्रावक' कहे गये हैं और जो श्रावकों के प्रतिमारूप धर्मों का ध्यान सदैव रखते हैं, वे स्वर्ग के उत्तम सोलह सुखों को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार महावीर प्रभु ने अनुरागी जीवों के हृदय में श्रावक-धर्म के उपदेश के द्वारा महान् हर्ष उत्पन्न किया। पश्चात् वे विरक्त मुनियों की प्रसन्नता के लिये मुनि-धर्म का उपदेश करने में प्रवृत्त हुए।

अहिंसा आदि पाँच महाव्रत; इर्यादि पाँच समितियाँ; पंचेन्द्रिय-विजय अर्थात् विषयों की ओर अपनी इन्द्रियों को न जाने देना; केश-लोंच, सामायिक इत्यादि षट् आवश्यक-कर्म; नग्न-मुद्रा, स्नान-परित्याग, भूमि-शयन, दन्तधावन-परिवर्जन, एक समय भोजन, रागहीन, खड़े ही खड़े भोजन करना इत्यादि अट्ठाईस मूल-गुण का होना ही मुनि-धर्म है। इन सम्पूर्ण मूल-गुणों का सदैव पालन करते रहना चाहिये। प्राण-विसर्जन का समय भी यदि उपस्थित हो जाय तो भी इन मूल-गुणों का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि इनके द्वारा तीनों लोक की सुख-सम्पदाएँ प्राप्त हो जाती हैं। मुनियों के उत्तम गुणों में परीषहों का जीतना, आतापन आदि अनेक तप, बहुत उपवास, मौन-धारण इत्यादि की गणना की गयी है। योगियों को चाहिये कि प्रथम तो वे उत्तमतापूर्वक निर्दोष हो कर मूल-गुणों की पालना करें और बाद में उत्तर-गुणों की। योगियों के धर्म के लक्षण दश हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य—ये धर्मों के उत्पत्ति-स्थान हैं। भव्य-जीवों के लिये उत्तर-गुणों द्वारा एवं पूर्वोक्त दशलक्षण धर्मरूप मूल-गुणों के द्वारा वर्त्तमान भव में ही मोक्ष को प्रदान करनेवाला परमोत्तम धर्म की प्राप्ति होती है। इसी के द्वारा सभी मुनीश्वर सर्वार्थ-सिद्धि एवं तीर्थङ्कर की सुख-सम्पत्ति को चिरकाल भोग कर अन्त में मोक्ष-पदवी को प्राप्त करते हैं। भव्य-जीवों के लिये इस संसार में धर्म के समान न कोई दूसरा है, न स्वामी है, न हितैषी है, न पाप-नाशक। सर्वतोभावेन सभी का कल्याण करनेवाला यह धर्म ही है। इसके बाद

श्री महावीर प्रभु ने कहा कि इस आर्यावर्त भरतक्षेत्र (भारतवर्ष) में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी नामक दो प्रकार के काल कहे गये हैं। ऐरावतक्षेत्र में भी ऐसी ही व्यवस्था है। उत्सर्पिणी नामक काल में रूप, बल, आयु देह एवं सुख की सदैव वृद्धि हुआ करती है। 'उत्सर्पिणी' शब्द के वास्तविक अर्थ से भी तो यही प्रकट होता है। यह उत्सर्पिणी काल बढ़ानेवाला है और यह दस कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। अवसर्पिणी काल में रूप, बल एवं आयु इत्यादि का नाश होता है; इसलिये सम्भवतः इसका पर्यायवाची नाम 'अवसर्पिणी' रखा गया है। इनके पृथक् छः भेद हैं। अवसर्पिणी का पहला काल सुखमा है और वह चार कोड़ाकोड़ी सागर का है। इस काल की आरम्भावस्था में ही आर्य-पुरुषों का उदय हुआ था। वे सूर्य के समान परम तेजस्वी एवं स्वर्ण के समान वर्णवाले होते हैं। इनकी आयु तीन पल्य की एवं शरीर की ऊँचाई तीस कोस की होती है। तीन दिन समय बीत जाने पर उनका अलौकिक आहार बदरा-फल (बेर) बराबर हो जाता है। उन्हें निहार यानी मलमूत्र की बाधा एकदम नहीं होती। उस समय इनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों के द्वारा हुआ करती है। मद्यांग, तूर्यांग, विभूषांग, मालांग, ज्योतिरांग, वीणांग, गृहांग, भोजनांग, वस्त्रांग, एवं भाजनांग—ये कल्पवृक्ष की दस जातियाँ होती हैं। ये सब वृक्ष उत्तम पात्र-दान के प्रभाव एवं फल से पुण्य-परायण पुरुषों की आन्तरिक तथा वाह्य अभिलाषाओं को सदैव पूण करने के लिये कटिवद्ध रहते हैं और सुख सम्पदाओं को प्रदान कर आनन्दित रखते हैं। श्रेष्ठ जीव पुरुष एवं स्त्री के रूप में युगल (जोड़ी) उत्पन्न हो कर चिरकाल सुख-भोगों को भोग कर उत्तम परिणाम के प्रभाव से स्वर्ग में जन्म ग्रहण करते हैं। इसी काल की 'भूमिका' नाम की भोगभूमि है, जो सम्पूर्ण सुखों को देनेवाली कही गयी है। वहाँ पर क्रूर स्वभाववाले पंचेन्द्री तथा दो इन्द्रियादिवाले विकलत्रय नहीं होते। इसके बाद सुखमा नाम के दूसरे काल का आरम्भ होता है। उसकी आयु तीन कोड़ाकोड़ी सागर की है। इस समय में मध्यम भोगभूमि की

रचना होती है और मनुष्यों की आयु दो पल्य की होती है। उनका शरीर दो कोस ऊँचा होता है एवं आकृति तथा वर्ण पूर्ण चन्द्र के समान आकर्षक होता है। ये लोग दो दिन के अन्तर से बहेड़े के फल के बराबर अनुपम आहार आत्मतृप्ति के लिये ग्रहण करते हैं। इनकी सुख-सामग्री भी भोग-भूमिवालों के ही समान रहती है।

इन दोनों के बाद तीसरे सुखमा-दुःखमा नाम के समय का आरम्भ होता है। इसका परिमाण दो कोड़ाकोड़ी सागर का है। इसमें जघन्य भोग-भूमि की रचना होती है। मनुष्य का आयुष्य-काल एक पल्य, शरीर की ऊँचाई एक कोस एवं आभा प्रियंगु वृक्ष के समान होती है। इन लोगों का आहार-काल एक दिन के बाद है और आँवले के बराबर आहार का परिमाण है। इन्हें भी कल्पवृक्षों से ही विविध सुख-सामग्रियाँ प्राप्त हुआ करती हैं। इसके अनन्तर दुःखमा-सुखमा काल का प्रवर्तन होता है और कर्म-भूमि आरम्भ होती है। इसमें शलाका अर्थात् पदवी धारण करनेवाले पुरुषों की उत्पत्ति होती है। इसका परिमाण ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का है। मनुष्यों का आयु-परिमाण एक करोड़ वर्ष पूर्व है। शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष की है तथा देहवर्ण पाँच प्रकार का होता है। ये दिन में एक बार श्रेष्ठ भोजन को ग्रहण करते हैं; तिरेसठ शलाका पुरुष ऐसे ही समय में उत्पन्न होते हैं।

त्रैलोक्याधिपति एवं इन्द्र आदि जिन चौबीस तीर्थङ्करों को नतमस्तक होकर नमस्कार किया करते हैं, उनके नाम निम्नलिखित हैं—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्वनाथ एवं श्री वर्द्धमान महावीर। ये धर्म के प्रवर्तक हैं और संसार के स्वामी हैं। बारह चक्रवर्ती हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम,

अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नान्दी, नन्दिमित्र, पद्म (रामचन्द्र) और बलदेव। नौ नारायण हैं, जिनके नाम ये हैं—त्रिपृष्ट, द्विपृष्ट, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण एवं श्रीकृष्ण। ये सब के सब तीनों खण्डों के स्वामी धीर-वीर एवं स्वभावतः रौद्र-परिणामी होते हैं। इन उपर्युक्त नौ नारायणों के अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुम्भ, कैटिभारि, मधुसूदन, वलिहन्ता, रावण, जरासन्ध—ये नौ प्रतिनारायण हैं। ये भी सब नारायण के ही समान सम्पत्तिशाली एवं अर्द्धचक्री हो कर नियम से नारायण के शत्रु होते हैं। इन्हीं को तिरेसठ—शलाका पुरुष कहा गया है। इन पूजनीय महात्माओं को मनुष्य, देव एवं विद्याधर प्रभृति सभी वन्दना किया करते हैं। श्री जिनेश महावीर प्रभु ने इनके जन्म-वृत्तान्तों से ले कर अन्त काल तक सब की पृथक्-पृथक् पुराण मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त विस्तारपूर्वक कहा है। उन पुराणों में इनको सम्पत्ति, आयु, बल, वैभव एवं सुख का विस्तृत वर्णन है। गणधर देव तथा अन्यान्य उपस्थित भव्य-जीव-समूहों के सामने श्री महावीर प्रभु ने इन सब बातों को कहा।

इसके बाद पाँचवाँ दुःखमाकाल नानाविध दुःखों से ओत-प्रोत है। इसका परिमाण इक्कीस हजार वर्ष का है। इस काल के आरम्भ में एक सौ बीस वर्ष की आयुवाले तथा सात हाथ ऊँचे शरीर को धारण करनेवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी बुद्धि मन्द होती है, शरीर रूखा होता है, सुख से हीन होते हैं, बहुत बार भोजन करनेवाले होते हैं और कुटिल परिणामवाले होते हैं। इनका शरीर, आयु, बुद्धि एवं बल इत्यादि दिनोंदिन न्यून होता चला जाता है। तब दुःखमा-दुःखमा नाम का काल आरम्भ होता है। इसकी अवधि भी इक्कीस हजार वर्ष का ही है। यह धर्म इत्यादि से हीन, अत्यन्त घोर दुःखों को देनेवाला है। उस समय मनुष्य केवल दो हाथ ऊँचे और बीस वर्ष की अवस्थावाले होते हैं। उनका वर्ण धुँए के समान काला एवं देखने में महाकुरूप होता है। प्रायः नग्नावस्था में ही ये रहते हैं और इच्छानुसार भोजन किया करते हैं। जब इस दुःखमा-दुःखमा का अन्तिम काल

रचना होती है और मनुष्यों की आयु दो पल्य की होती है। उनका शरीर दो कोस ऊँचा होता है एवं आकृति तथा वर्ण पूर्ण चन्द्र के समान आकर्षक होता है। ये लोग दो दिन के अन्तर से बहेड़े के फल के बराबर अनुपम आहार आत्मतृप्ति के लिये ग्रहण करते हैं। इनकी सुख-सामग्री भी भोग-भूमिवालों के ही समान रहती है।

इन दोनों के बाद तीसरे सुखमा-दुःखमा नाम के समय का आरम्भ होता है। इसका परिमाण दो कोड़ाकोड़ी सागर का है। इसमें जघन्य भोग-भूमि की रचना होती है। मनुष्य का आयुष्य-काल एक पल्य, शरीर की ऊँचाई एक कोस एवं आभा प्रियंगु वृक्ष के समान होती है। इन लोगों का आहार-काल एक दिन के बाद है और आँवले के बराबर आहार का परिमाण है। इन्हें भी कल्पवृक्षों से ही विविध सुख-सामग्रियाँ प्राप्त हुआ करती हैं। इसके अनन्तर दुःखमा-सुखमा काल का प्रवर्तन होता है और कर्म-भूमि आरम्भ होती है। इसमें शलाका अर्थात् पदवी धारण करनेवाले पुरुषों की उत्पत्ति होती है। इसका परिमाण ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का है। मनुष्यों का आयु-परिमाण एक करोड़ वर्ष पूर्व है। शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष की है तथा देहवर्ण पाँच प्रकार का होता है। ये दिन में एक बार श्रेष्ठ भोजन को ग्रहण करते हैं; तिरेसठ शलाका पुरुष ऐसे ही समय में उत्पन्न होते हैं।

त्रैलोक्याधिपति एवं इन्द्र आदि जिन चौबीस तीर्थङ्करों को नतमस्तक होकर नमस्कार किया करते हैं, उनके नाम निम्नलिखित हैं—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्वनाथ एवं श्री वर्द्धमान महावीर। ये धर्म के प्रवर्तक हैं और संसार के स्वामी हैं। बारह चक्रवर्ती हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेन, जयकुमार एवं ब्रह्मदत्त। नौ बलभद्र हैं, जिनके नाम ये हैं—विजय,

अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नान्दी, नन्दिमित्र, पद्म (रामचन्द्र) और बलदेव। नौ नारायण हैं, जिनके नाम ये हैं—त्रिपृष्ट, द्विपृष्ट, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण एवं श्रीकृष्ण। ये सब के सब तीनों खण्डों के स्वामी धीर-वीर एवं स्वभावतः रौद्र-परिणामी होते हैं। इन उपर्युक्त नौ नारायणों के अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुम्भ, कैटिभारि, मधुसूदन, वलिहन्ता, रावण, जरासन्ध—ये नौ प्रतिनारायण हैं। ये भी सब नारायण के ही समान सम्पत्तिशाली एवं अर्द्धचक्री हो कर नियम से नारायण के शत्रु होते हैं। इन्हीं को तिरेसठ—शलाका पुरुष कहा गया है। इन पूजनीय महात्माओं को मनुष्य, देव एवं विद्याधर प्रभृति सभी वन्दना किया करते हैं। श्री जिनेश महावीर प्रभु ने इनके जन्म-वृत्तान्तों से ले कर अन्त काल तक सब की पृथक्-पृथक् पुराण मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त विस्तारपूर्वक कहा है। उन पुराणों में इनको सम्पत्ति, आयु, बल, वैभव एवं सुख का विस्तृत वर्णन है। गणधर देव तथा अन्यान्य उपस्थित भव्य-जीव-समूहों के सामने श्री महावीर प्रभु ने इन सब बातों को कहा।

इसके बाद पाँचवाँ दुःखमाकाल नानाविध दुःखों से ओत-प्रोत है। इसका परिमाण इक्कीस हजार वर्ष का है। इस काल के आरम्भ में एक सौ बीस वर्ष की आयुवाले तथा सात हाथ ऊँचे शरीर को धारण करनेवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी बुद्धि मन्द होती है, शरीर रूखा होता है, सुख से हीन होते हैं, बहुत बार भोजन करनेवाले होते हैं और कुटिल परिणामवाले होते हैं। इनका शरीर, आयु, बुद्धि एवं बल इत्यादि दिनोंदिन न्यून होता चला जाता है। तब दुःखमा-दुःखमा नाम का काल आरम्भ होता है। इसकी अवधि भी इक्कीस हजार वर्ष का ही है। यह धर्म इत्यादि से हीन, अत्यन्त घोर दुःखों को देनेवाला है। उस समय मनुष्य केवल दो हाथ ऊँचे और बीस वर्ष की अवस्थावाले होते हैं। उनका वर्ण धुँए के समान काला एवं देखने में महाकुरूप होता है। प्रायः नग्नावस्था में ही ये रहते हैं और इच्छानुसार भोजन किया करते हैं। जब इस दुःखमा-दुःखमा का अन्तिम काल

आ जाता है, तब इन मनुष्यों की ऊँचाई एक हाथ की रह जाती है और पशुओं के समान वृत्तिवाले हो कर इधर-उधर फिरा करते हैं। इनकी आयु अधिक से अधिक १६ वर्ष की होती है। ये सब अत्यन्त निन्दनीय होते हैं और बुरी गति को प्राप्त करते हैं। जिस तरह कि अवसर्पिणी काल क्रमशः धीरे-धीरे हीन होता चला जाता है, उसी तरह उत्सर्पिणी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। इतना कह चुकने के बाद श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु ने 'लोक का' वर्णन करना आरम्भ किया।

इस लोक का अधःस्थल (निचला भाग) बेंत के आसन (मोढ़े) के समान है; बीच में झालर-सा लगा हुआ है और ऊपरी भाग में मृदङ्ग के आकार का बना हुआ है। इसी में जीव इत्यादि छः द्रव्य भरे पड़े हैं। इसके साथ ही प्रभु ने द्वीप इत्यादि का विशेष आकार तथा स्वर्ग और नरक का भी वर्णन कर चुकने के बाद कहा कि तीनों लोक में जो भी कुछ भूत भविष्य और वर्तमान काल में होनेवाले शुभ-अशुभ पदार्थ हैं तथा इनसे पृथक् जो अलोकाकाश है, वे सभी केवलज्ञान के ही द्वारा वास्तविकरूप में जाने जा सकते हैं। श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु ने भव्य-जीवों की भलाई के लिये तथा धर्म और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये द्वादशांगरूप वाणी के द्वारा सब तथ्यों का वर्णन किया। जिस प्रकार चन्द्रमा को 'सुधास्रवी' कहते हैं और बराबर अमृत झरता रहता है, उसी प्रकार श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु के मुखचन्द्र से निकलनेवाले ज्ञानोपदेशरूपी अमृत को कर्ण-पात्रों से पी कर (सुन कर) श्री गौतम स्वामी ने मिथ्यात्वरूपी भयानक विष को उगल दिया और काललब्धि (उत्तम भवितव्यतावश) सम्यक्दर्शन से युक्त हो कर संसार, शरीर और भोग इत्यादि से विरक्त हो गये। वे अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगे—मैंने अतीव मूर्खतावश आज पर्यन्त सम्पूर्ण पाप-कार्यों को उत्पन्न करनेवाले अत्यन्त निन्दनीय और अशुभ मिथ्या-मार्ग का व्यर्थ ही सेवन किया। जिस प्रकार भ्रम में पड़ कर कोई मनुष्य विषधारी सर्प को माला समझ कर गले में धारण करने के लिये उठा लेता है, उसी प्रकार मैं भी भ्रम

में ही पड़ा रह गया। धर्म के धोखे में मिथ्यात्वरूपी महापाप को ग्रहण कर लिया। धूर्तों के द्वारा बनाये गये अज्ञान-मिथ्यात्व-मार्ग में फँस कर, महामूर्ख लोग महाभयङ्कर और घोर नरक में दुःसह यन्त्रणाओं को भोगने के लिये जोरों से गिराये जाते हैं और वहां पर इनकी भीषण दुर्गति होती है। मदिरा को पी कर जो एकदम मदोन्मत्त हो गया है, वह मल-मूत्रादि का किस प्रकार ध्यान रख सकता है? जो सम्यक्‌दर्शन से हीन हैं, वे मतवालों की तरह ही अशुभ-मार्ग में जा गिरते हैं। अन्धा पुरुष यदि मार्ग में चलता है, तो वह कुएँ में गिरने से कैसे बच सकता है? मिथ्यात्व से जिनकी आँखें अन्धी हो गयी हैं, वे नरकरूपी कुएँ में अवश्य ही गिर पड़ते हैं। यह मिथ्यात्व-मार्ग अत्यन्त हेय है; यह दुष्टों को नरक में पहुंचा देने का साथी है और इसका आदर भी जड़मति जीव ही किया करते हैं। इस मिथ्यात्व को सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि धार्मिक राजाओं का उग्र शत्रु समझना चाहिये। इसे जीव-भक्षक महाविषधारी और विशाल अजगर सर्प से कम कदापि नहीं समझना चाहिये यह सम्पूर्ण पापों का उत्पत्ति-स्थान (खानि) है। जिस प्रकार कि बैलों के सींग से दूध का मिलना, पानी के मथने से घी का निकलना, दुर्व्यसनों से प्रशंसा प्राप्त करना, कृपणता से प्रसिद्ध होना और नीच-कर्म से धनोपार्जन करना असम्भव है; उसी प्रकार मिथ्यात्व के द्वारा अज्ञानी पुरुषों को शुभ वस्तु, श्रेष्ठ सुख और उत्तम गति कदापि नहीं मिल सकती। धर्महीन मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यात्व आचरण के कारण भयङ्कर दुःख और दुर्गतिरूप नरक में ही पड़ते हैं। इसलिये हे प्राणियो! स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करने के लिये, बुद्धिमानों को चाहिये कि वे अपने मिथ्यात्वरूपी महाशत्रुओं को सम्यक्-दर्शनरूपी तीक्ष्ण तलवार के द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर डालें।"

"आज मेरा जन्म सफल हो गया और अब मैं धन्य हूं! अत्यन्त अधिक पुण्यों के उदय से ही हमें जगद्‌गुरु श्री जिनेन्द्रदेव के समान महाज्ञानी गुरु प्राप्त हुए। इनके अनुपम उपदेश में जो कहा गया है, वही सत्य, सरल और श्रेष्ठ मोक्ष का मार्ग है। इसी से सम्पूर्ण सुखों की

प्राप्ति हो सकती है। मेरे हृदय में जो दर्शन-मोह यानी मिथ्यात्वरूपी निविड़तम अन्धकार
व्याप्त था, वह प्रभु के उपदेशरूपी तेजस्वी किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो गया और अब वहां
उज्ज्वल प्रकाश-सा जान पड़ रहा है''—ऐसा सोच कर वह विद्वद्वर विप्र गौतम, धर्म एवं
धर्म के उत्तमोत्तम फलों के विषय में विचार करने लगा। वह आनन्द के कारण उछलने
लगा। उसने विरक्त हो कर निश्चय किया—"मोह इत्यादि शत्रु-सैन्य के साथ मिथ्यात्व-
रूपी महाशत्रु की सन्तति-शाखा का मूलोच्छेदन करने के लिये हमें जिन-दीक्षा ग्रहण कर
लेनी चाहिये। इसी से मोक्ष की प्राप्ति होगी और अक्षय सुख मिलेगा।'' इसके बाद बाहर
के दस और भीतर के चौदह परिग्रहों का परित्याग कर उन्होंने मन, वचन और काय की
शुद्धि की और अपने अन्य दोनों भाइयों के साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र की दिगम्बर
(नग्न) मुद्रा धारण कर ली। बाद में पाँच सौ शिष्यों को उन्होने तत्व-स्वरूप का उपदेश
दिया; जिसे सुन कर अनेकों के हृदय का अन्धकार दूर हो गया और पूर्वोक्त दोनों प्रकार
के परिग्रहों का परित्याग कर उन्होंने मुनि-चारित्र को ग्रहण कर लिया। साथ ही वहां
पर उपस्थित राज-कन्याएँ और अन्य सुशीला स्त्रियाँ भी उपदेश को सुन कर प्रभावित
हुईं और अभीष्ट-सिद्धि के लिये प्रसन्नतापूर्वक उसी समय अर्जिकाएँ हो गयीं। कितने ही
शुभ-परिणामी नर-नारियों ने श्री जिनेन्द्रदेव के उपदेश के अनुसार श्रावक के व्रतों को
ग्रहण कर लिया। सिंह, सर्प इत्यादि हिंसक पशुओं ने भी उस उपदेशामृत के प्रभाव से
अपने-अपने हिंसक स्वभाव को छोड़ कर श्रावकों के व्रतों को स्वीकार कर लिया। चारों
जाति के देव और देवियों ने तथा मनुष्य एवं पशुओं ने, प्रभू के वचनामृत को पी कर अपने
मिथ्यात्वरूपी हलाहल को दूर कर दिया और मोक्ष-प्राप्ति के लिये सौभाग्यवश प्राप्त
सम्यक्दर्शनरूपी बहुमूल्य रत्नहार को अपने हृदय में सौख्यपूर्वक धारण किया। जो व्रतादि
के पालन में असमर्थ थे, वे आत्म-कल्याण की भावना से दान, पूजा और प्रतिष्ठा
इत्यादि का आचरण करने लगे। जिन लोगों ने भक्तिवश तप और व्रत इत्यादि को ग्रहण

तो कर लिया; लेकिन अन्त में अतापनादि कठिन कार्यों को नहीं कर सके; वे मन, वचन और काय की शुद्धि में प्रवृत्त हो कर कर्मरूपी शत्रओं के नाश-कार्य में प्रवृत्त हो गये। इसके बाद सौधर्मेन्द्र ने भक्तिपूर्वक गणधर देव गौतम की अलौकिक पूजनीय द्रव्यों से पूजा की, उनके सुन्दर चरणारविन्द को नमस्कार किया और स्तुति में उनके गुण-गौरव का गान करते हुए सम्पूर्ण उपस्थित सज्जन पुरुषों के सामने ही आप का नाम 'इन्द्रभूति स्वामी' घोषित किया और तभी से यह दूसरा नाम भी प्रचलित हुआ है।

श्री गौतम गणधर को आश्चर्यजनक परिणाम-शुद्धि के द्वारा उसी समय सातों ऋद्धियाँ प्रकट हुईं; उनकी मानसिक शुद्धि के ही कारण शीघ्र ऐसा हो सका। हे प्राणियो! इस संसार में अपने मन को परम पवित्र रखने से ही सज्जनों को अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। यदि सर्वतोभावेन मन की शुद्धि हो जाय, तो क्षणमात्र में ही केवलज्ञानरूपी अत्यन्त दुर्लभ महा ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है। श्रावण कृष्ण एकम (प्रतिपदा) के दिन प्रातःकाल श्री महावीर प्रभु के तत्वोपदेश के द्वारा मन की शुद्धि हो जाने के कारण इन इन्द्रभूति गणधर के हृदय में सब अङ्गपूर्व के पद अर्थरूप में बदल गये। ज्ञानावरण के नष्ट प्रायः हो जाने पर दिन के अन्तिम प्रहर में, बुद्धि में सब अङ्गपूर्व प्रकट होने से, मति आदि चार ज्ञानों को पा कर अपनी अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा इन्द्रभूति ने भव्य-जीवों की कल्याण-कामना के हेतु सम्पूर्ण शास्त्र की रचना की और उसके बाद रात्रि के अन्तिम प्रहर के समय भविष्य में धार्मिक प्रवृत्ति के प्रचार की इच्छा से पद-वाक्यरूप द्रव्यों का निर्माण किया।

धर्म के प्रभाव एवं फल से श्री गौतम गणधर स्वामी ने द्वादशांग शास्त्रों की रचना करने के बाद सब मुनियों में श्रेष्ठ, श्रद्धेय और पूजनीय हुए; इसलिये संसार के बुद्धिमान पुरुषों को चाहिये कि वे अपनी अभीष्ट प्राप्ति के लिये मन को पवित्र कर के उत्तम धर्म का आश्रय करें।

ज्ञान-ज्योति से मोह को, दूर करे जो नाथ। भव्य-कमल विकसित करे, कर के मुझे सनाथ॥

ऊनविंश प्रकरण

अथानन्तर उपदेश के बाद जब दिव्यवाणी को विश्राम मिल गया और जीवों का कोलाहल शान्त-सा हो गया, तब गुणवान और बुद्धिमान सौधर्म इन्द्र श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपनी अभीष्ट-प्राप्ति की इच्छा से श्री महावीर प्रभु की स्तुति करने लगे। भगवान महावीर स्वामी तीनों लोक के भव्य-जीवों के मध्य में विराजमान थे और सम्पूर्ण प्राणियों को सावधान करने में प्रवृत्त थे। इन्द्र ने रानियों के उपकार-साधन की इच्छा से और अन्यत्र भी धर्मोपदेश करने की प्रेरणा करते हुए जगद्वन्द्य महावीर प्रभु की स्तुति करना आरम्भ किया। "हे देव! मैं अपने मानसिक, वाचनिक और कायिक शुद्धि के लिये स्तुति कर रहा हूं। आप अनन्त गुणों के सागर हैं और तीनों लोक के स्वामियों के द्वारा परम पूजनीय माने गये हैं। वे आप की सेवा और स्तुति करने में अपना सौभाग्य समझते हैं। आप की स्तुति करने से भव्य-जीवों के उत्कट पाप-मल दूर हो जाते हैं और मन के विशुद्ध हो जाने पर, संसार की सम्पूर्ण सुख-सम्पदाएँ प्राप्त हो जाती हैं। फिर कौन ऐसा है, जो अभ्युत्थान चाहता हुआ भी आप की सेवा स्तुति न करे? जो विशिष्ट फल पाने की इच्छा करते हैं, वे सभी आप की स्तुति करने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं। स्तुति के चार अङ्ग हैं—१ स्तुति, २ स्तोता (स्तुति करनेवाला), ३ स्तुत्य (जिसकी स्तुति की जाय) और ४ फल। जिस वाणी के द्वारा गुण-सागर श्री अर्हन्तदेव के वास्तविक गुणों की प्रशंसा की जाय, उसे विचारवान पुरुषों ने 'स्तुति' कहा है। जो अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान इत्यादि विविध उत्तमोत्तम गुणों से युक्त हैं, वीतराग और त्रैलोक्य के नाथ हैं, वे श्री जिनेन्द्रदेव ही सभी सज्जन महापुरुषों के द्वारा परम स्तुत्य माने गये हैं। प्रभु की स्तुति करने का साक्षात् फल तो परम पुण्य की प्राप्ति है; परन्तु अन्त में उन सम्पूर्ण गुणों की भी प्राप्ति हो जाती है, जो प्रभु में विद्यमान हैं। मैं सम्पूर्ण सामग्रियों को पा कर आप की स्तुति में प्रवृत्त हुआ

हूं। आप अपनी कल्याणमयी प्रसन्न दृष्टि से हमें पवित्र करने की कृपा करें। हे प्रभु! आज आप ने अपने वचनरूपी किरणों से भव्यों के आन्तरिक मिथ्यात्वरूपी उस महान्धकार को भी दूर कर दिया, जिसे कि सूर्य की किरणें भी नहीं छू पातीं। हे नाथ! जब आप ने वचन-रूपी तेज तलवार से मोहरूपी महाशत्रु पर प्रहार किया, तब अपनी सेना के साथ वह भाग खड़ा हुआ और जड़ मन एवं इन्द्रियों के आश्रय में जा छिपा। हे देव! जब आप का वचन-रूपी वज्र कामदेव पर गिरा, तब अन्यान्य इन्द्रियरूपी चोरों के साथ वह भी मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हो गया। हे ईश! जब आप के केवलज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्रमा का उदय हुआ, तब उल्लास के कारण धर्मरूपी समुद्र तरङ्गायित हो गया। इस धर्म-सागर में सम्यग्दर्शनादि महारत्न भरे हुए हैं और यत्नशील बुद्धिमान पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं। हे भगवन्! आज आप के धर्मोपदेशरूपी अस्त्र से, भव्यों का, सम्पूर्ण जीवों को सन्ताप दे कर दुःखी करने-वाला पापरूपी महाशत्रु नष्ट हो गया। कितने ही भव्य आप से दर्शन एवं चारित्र आदि परमोत्तम सम्पत्तियों को पा कर अक्षय सुख की प्राप्ति के लिये उत्तम मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं; कितने ही आप से रत्नत्रय एवं तपरूपी बाणों को पा कर चिरकालानुबन्धी कर्म शत्रु को मारने के लिये सन्नद्ध हैं और मोक्ष प्राप्ति की अत्यन्त उत्कट कामना से उग्र प्रयत्न करने में प्रवृत्त हैं। हे नाथ! आप नित्यप्रति त्रैलोक्य के भव्यों को सम्यक्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र - धर्मरूपी बहुमूल्य एवं अत्यन्त उत्तम रत्न को प्रदान करनेवाले हैं। इन रत्नों के द्वारा सभी सुख-सम्पत्तियाँ एवं सर्वश्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त कर लिया जाता है। इसलिये हे देव! इस संसार में न तो आप के समान कोई भी धनवान् है और न कोई ऐसा महादानी ही है। यह समस्त संसार मोहनिद्रा में एकदम बेसुध हो कर पड़ा हुआ था, परन्तु आज आप के वचनरूपी बाद्य के गम्भीर नाद से जागृत यानी सजग हो गया। आप के अनुग्रह से कितने ही भव्य-जीव सर्वार्थ-सिद्धि, स्वर्ग एवं मोक्ष को प्राप्त होंगे। आप के इस उपदेशा-मृत का पान कर देव, मनुष्य एवं पशु—सभी कर्म-समूह को एकदम नष्ट कर देने के लिये

तुल गये है और आप के विहार के कारण आर्यखण्ड-निवासी ज्ञानवान् भव्य-जीव भी सम्पूर्ण तात्विक रहस्यों को जान कर पाप-कार्यों के नाश में प्रवृत्त होंगे।

हे प्रभु! आप के पुनीत विहार (धार्मिक भ्रमण) के कारण अनेकों भव्य-जीव तपरूपी तलवार के द्वारा सांसारिक स्थिति को छिन्न-भिन्न कर के सुख-समुद्र (मोक्ष) को प्राप्त होंगे। अनेकों योगी आप के उत्तम धर्मोपदेश से चारित्र-पालन में तत्पर हो कर अहमिन्द्र-पद को प्राप्त कर लेने मे समर्थ होंगे और अनेकों सोलह स्वर्ग मे जायेंगे। हे भगवन्! संसार के कितने ही मोह एवं पाप-परायण जीव आप के उपदेश से उत्तम पथ पर आरूढ़ हो जायेंगे और फिर मोहरूपी शत्रु का नाश करने में प्रवृत्त होंगे। भव्य-जीवों को मोक्ष के परम रमणीक द्वीप में ले जानेवाले चतुर व्यवसायी आप ही हैं। इन्द्रिय-कषायरूपी चोरों को पकड़ कर अत्यन्त कठोर दण्ड देनेवाले महा बलवान योद्धा भी आप ही हैं। हे प्रभो! आप भव्य-जीवों पर दया कर के मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्ति-प्रचार के लिये धर्म-साधक विहार-कार्य का प्रारम्भ करें। जो भव्य-जीवरूपी धान्य मिथ्यात्वरूपी दुष्काल (अकाल) के कारण एकदम सूख से गये हैं, उन्हें धर्मरूपी अमृत-जल के सिंचन से आप पुनः हरा-भरा कर दीजिये। जगत् को दुःख देनेवाले एवं दुर्जय मोहरूपी शत्रु को मारने के लिये स्वर्ग मोक्ष-दायक आप का धर्मोपदेशरूपी बाण प्राप्त होगा और समस्त पुण्यात्मा जीवों को निश्चय-रूपेण सफलता मिलेगी। मिथ्याज्ञानरूपी महान अन्धकार को नष्ट कर देनेवाला यह उत्तम धर्म-चक्र भी शोभायमान है। इस धर्म-चक्र को देवों ने चारों ओर से घेर रखा है। यह आप की गौरवपूर्ण विजय को बतानेवाला है। मिथ्या-मार्ग को हटा कर सत्य-मार्ग के प्रतिपादन के लिये काल भी आप के सम्मुख उपस्थित है। मैं अब और अधिक क्या कहूं? बस, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अब आप शीघ्र ही विहार कर के आर्यखण्ड-निवासी भव्य-जीवों का कल्याण करें और उन्हें पवित्र बनायें। मिथ्यामार्गरूपी महान अन्धकार को दूर कर के स्वर्ग एवं मोक्ष का अति प्रशस्त पथ दिखलानेवाला आप के अतिरिक्त कदाचित्

कोई दूसरा नहीं है। भव्यों का उपकार करनेवाले एकमात्र आप ही तो हैं। इसलिये हे स्वामिन् ! आप को पुनः-पुनः नमस्कार है। आप गुणों के रत्नाकर हैं। अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन एवं अनन्त-सुखशाली आप हैं। आप अनन्त हैं, बल-स्वरूप हैं, दिव्यमूर्ति हैं, महालक्ष्मी से विभूषित हैं और विरक्त हैं। आप को बार-बार नमस्कार है। आप यद्यपि असंख्य देवियों से घिरे हुए हैं, तथापि पूर्ण ब्रह्मचारी हैं। उदय-प्राप्त ज्ञानशाली आप हैं, मोह-शत्रु-नाशक आप हैं; इसलिये आप को नमस्कार है। शान्तरूप से ही कर्म-शत्रु को परास्त करनेवाले, सम्पूर्ण जगत् के स्वामी एवं मुक्तिरूपिणी सुन्दरी स्त्री के प्रियतम पति आप ही हैं। आप को पुनः-पुनः नमस्कार है। हे देव, सन्मति महावीर ! मैं अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये आप को नतमस्तक हो कर कोटिशः प्रणाम करता हूं। हे स्वामिन् ! हमें और किसी अन्य वस्तु की अभिलाषा नहीं है; बस जन्म-जन्म में आप की श्रेष्ठ भक्ति की कामना है, वही आप हमें स्तुति, भक्ति, सेवा एवं नमस्कार के फलस्वरूप प्रदान करने का अनुग्रह करें ! तीनों लोक में अत्यन्त उत्तम सुख एवं मनोकामना को पूर्ण करनेवाले सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति हो—यही आप के चरणारविन्द की भक्ति कर के मैं पाना चाहता हूं।

यद्यपि जगत्गुरु श्री महावीर तीर्थङ्कर संसार के समुद्बोधन में रत थे, तथापि पूर्वोक्त प्रकार से इन्द्र के द्वारा स्तुति की जाने पर उन्होंने सब भव्यों को मिथ्या-मार्ग से दूर हटा कर निर्भ्रान्त मोक्ष-मार्ग पर लाने के लिये विहार करने का निश्चय किया। जब प्रभु विहार करने के लिये उद्यत हुए तब बारह प्रकार के जीव-समूहों ने उन्हें घेर रखा था, देववृन्द चमर हिला कर सेवा कर रहे थे, सिर पर तीन परमोत्तम छत्र शोभायमान हो रहे थे और उनके पास महा सम्पदाएँ एकत्रित थीं। करोड़ों वाद्य की ध्वनि के साथ प्रभु ने विहार करना प्रारम्भ किया। अनेकों ध्वजा-पताकायें एवं छत्र इत्यादि से सारा आकाश-मंडल ढँक-सा गया। देववृन्द चारों ओर से जय-ध्वनि करने लगा। हे ईश ! आप सम्पूर्ण

भव्य-जीवों के महाशत्रु मोह को जीते और जयवन्त कहलाये। प्रभो ! आप की वृद्धि हो और आनन्द को प्राप्त करे ! इसके बाद प्रभु विहार करने लगे और सब सुर-असुर इत्यादि के मध्य में तेजस्वी सूर्य के समान शोभायमान हुए। प्रभु के विहार स्थान से ले कर सौ योजन पर्यन्त सम्पूर्ण दिशाओं में अत्यन्त सुकाल था। सातों प्रकार की आपदाये भव्यों को कहीं छायामात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होती थीं। अर्हन्त प्रभु अनेको देश, पर्वत, नगर एवं नदी इत्यादि को पार करते हुए आकाश-मार्ग से ही आगे बढ़ने लगे। प्रभु के शान्त परिणाम के प्रभाव के कारण हरिण, मृग इत्यादि अन्य जीवों को दुष्ट सिंहादि हिंसक पशुओं से कुछ भी भय न था। प्रभु नोकर्म-वर्गणा के आहार से ही पुष्ट थे, सुखी एवं विरक्त थे। कर्मों के नाश हो जाने के कारण कवलाहार (ग्रास भोजन) प्रायः बन्द हो चुका था। अनन्त चतुष्टय के साथ इन्द्रादि प्रभु को घेरे हुए थे। प्रभु का असाता-कर्म-उदय अत्यन्त मन्द था; इसीलिये मनुष्यों के द्वारा किये गये उपसर्ग का एकदम अभाव था। त्रिजगद्गुरु श्री महावीर प्रभु के अतिशय के कारण चारों दिशाओं मे चार मुख थे, वे सभी को अपने सम्मुख ही पाते थे। सभी जीव अत्यन्त निकट थे और उन्हें किसी प्रकार का कोई भय नहीं था। घातिया-कर्मों के नाश हो जाने के बाद प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। वे सम्पूर्ण विद्याओं के स्वामी थे और उनके नेत्र भी तेजस्वी थे। प्रभु के दिव्य शरीर की न कहीं छाया (परछाईं) पड़ी, न आँखों के पलक ही बन्द हुए और न कभी नख एवं केशों की वृद्धि हुई। घातिया-कर्मरूपी शत्रुओं के नाश हो जाने पर उस विभु के दस दिव्य अतिशय स्वतः प्रकट हो गये। सब अङ्गों से अर्थ-स्वरूप अर्धमागधी भाषा निकली। यही प्रभु की दिव्य भाषा थी। यह सभी लोगों को आनन्द देनेवाली, समग्र सन्देह को मिटानेवाली, दो प्रकार के धर्म को एवं सम्पूर्ण पदार्थों को कहनेवाली हुई। इस सद्गुरु के परम आश्चर्योत्पादक प्रभाव से स्वभावतः जाति-विरोधी सर्प एवं नेवले इत्यादि जीव परस्पर के बैर-भाव को मिटा कर परम मित्र की तरह एक ही स्थान पर रहने लगे

और सब वृक्षों में एक साथ सम्पूर्ण ऋतुओं के फल-फूल एक ही साथ फलने लग गये। वे इस विचित्र परिवर्तन से प्रभु के परमोत्तम दिव्य तप के प्रभाव को ही व्यक्त कर रहे थे। धर्म के सम्राट् प्रभु का जहां सभामण्डप होता था, वहां पृथ्वी चारों ओर से आतशी के समान पारदर्शी एवं प्रभापूर्ण दीख पड़ती थी। जब प्रभु जगत् के जीवों को उद्बोधित करने के लिये चलते थे, तब सब को सुख पहुंचा कर सेवा करने की इच्छा से वायु शीतल, मन्द एवं सुगन्धयुक्त हो कर बहने लगता था। अतुल आनन्द को देनेवाली प्रभु के जय-जयकार की ध्वनि से वह मुखरित था और शोक-सन्तप्त जीवों को उसे सुन कर अपार आनन्द प्राप्त होता था। प्रभु के सभामण्डप के आगे चार कोश तक की पृथ्वी को वायुकुमारदेव स्वच्छ एवं तृणकण्टकादि से हीन कर दिया करते थे। इसी प्रकार स्तनितकुमारदेव बिजली की चमक से युक्त अत्यन्त सुगन्धित जल की वर्षा से चारों ओर का सिंचन कर देते थे और देववृन्द प्रभु के पैर रखने के स्थान पर रत्न जड़े हुए प्रकाशमान सुवर्ण के बनाये हुए पीले पखुड़ियोंवाले सात-सात कमल बना दिया करते थे। प्रभु के पाद-पद्म उसी स्वर्ण-कमल पर ही पड़ते थे। सब को तृप्ति देनेवाले शालि इत्यादि अन्न, वनस्पति, धान्य आदि अधिक मात्रा में एवं पुष्ट कणों से परिपूर्ण हो कर एकदम झुक जाते थे तथा अन्यान्य वृक्ष भी सम्पूर्ण ऋतुओं के फल से युक्त हो कर विनयावनत पुरुष के समान नीचे की ओर लटक जाते थे और उनकी शोभा बढ़ जाया करती थी।

जिस प्रकार सम्पूर्ण पापों के दूर हो जाने से हृदय निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार जहां प्रभु का सभामंडप था, वहां सम्पूर्ण दिशाएँ आकाश के समान एकदम स्वच्छ हो जाया करती थीं; मानो उनके भी पापपुञ्ज धुल गये हों। इन्द्र की आज्ञा से चारों जाति के देव, प्रभु की यात्रा में सम्मिलित होने के लिये परस्पर एक दूसरे को बुलाया करते थे। उन महा-महिमाशाली प्रभु के आगे-आगे प्रभापूर्ण रत्नों से सुशोभितसहस्रों आरोंवाला धर्म-चक्र चल रहा था। वह अपनी प्रखर ज्योति से महान अन्धकार के हृदय को विदीर्ण करता

हुआ बढ़ रहा था और देवमंडली उसे घेरे हुए थी। दर्पण आदि आठ मङ्गल-द्रव्यों को देव अपने साथ लिये हुए थे। यह सब महान् चौदह अतिशय भक्ति के द्वारा देवों ने किया। दिव्य चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, चार अनन्त चतुष्टय तथा अन्य अपरिमेय गुणों से संयुक्त प्रभु अनेकानेक देश, वन, पर्वत, नगर और ग्रामों में विहार करते हुए, राजगृही नाम की नगरी के बाहर विपुलाचल पर्वत पर पहुंचे। वे अर्हन्त महावीर प्रभु धर्मोपदेशरूपी अमृत से अनेकानेक भव्य-जीवों को तृप्त करनेवाले थे, उन्हें वस्तुस्वरूप का वास्तविक रहस्य बता कर मोक्ष के परिष्कृत पथ पर ले जानेवाले थे, मिथ्या-ज्ञानरूपी अत्यन्त घने अन्धकार से आच्छन्न, भयोत्पादक मार्ग को अपने तपरूपी प्रकाश से आलोकमय करनेवाले थे; रत्नत्रय-स्वरूप मोक्ष के मार्ग को प्रगट करनेवाले और कल्पवृक्ष की तरह सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र तप और दीक्षारूपी आकांक्षित चिन्तामणि रत्नों के दाता थे तथा सम्पूर्ण संघ और देववृन्द से परिवेष्टित थे।

इसके बाद जब राजगृही नगरी के अधिपति महाराज श्रेणिक ने बनमाली के मुख से प्रभु के शुभागमन का समाचार सुना, तब वह शीघ्र ही भक्ति के वशीभूत हो कर स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव और महासम्पदा को अपने साथ ले कर प्रसन्नतापूर्वक उस विपुलाचल पर्वत पर पहुंचा जहां कि प्रभु आये हुए थे। वहां जा कर उसने प्रभु की तीन परिक्रमा दी और मन, वचन एवं काय से पवित्र हो कर श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और जल इत्यादि अष्टद्रव्यों से जिनेन्द्र प्रभु के चरणारविन्द की पूजा और भक्ति-विह्वल हो कर स्तुति करने लगा—हे नाथ! आज हम धन्य हुए, हमारा जीवन सफल हुआ मनुष्य-जन्म चरितार्थ हुआ। भला, जगद्गुरु को पा लेना कितने सौभाग्य की बात है! आप के कोमल चरणारविन्द के शुभ दर्शन से हमारे नेत्र और आप को नमस्कार करने से हमारा मस्तक कृतार्थ हो गया। आप की पूजा करने से हाथ, यात्रा करने से पैर, स्तुति करने से वाणी पवित्र और सफल हो गयी। आप के अनुपम अद्भुत और अलौकिक गुणों का चिन्तवन करने से

मन पवित्र हो गया तथा सेवा करने से यह शरीर कृतकृत्य हो गया। हमारे पापरूपी महा-शत्रु को नष्ट करने के लिये ही सम्भवतः आप का यहां शुभागमन हुआ है। हे प्रभो! आप के जैसा विशाल जलयान (जहाज) के सामने तो यह क्षुद्र संसाररूपी सागर एक साधारण गड्ढे के समान जान पड़ता है। अब मैं एकदम निर्भय हो गया। इस प्रकार त्रैलोक्य स्वामी गद्‌गद् चित्त से श्री जिनेन्द्र प्रभु की स्तुति और पुनः-पुनः उन्हें नमस्कार कर वह अत्यन्त हर्षित हुआ और सत्य-धर्म का उपदेश सुनने लिये मनुष्यों के कोष्ठ में जा कर जिज्ञासु-भाव से बैठ गया। बैठ चुकने के बाद महाराज श्रेणिक ने यति-धर्म, गृहस्थ-धर्म, सम्पूर्ण तत्व, तीर्थङ्करों के पुराण, पाप-पुण्य का पृथक्-पृथक् फल, श्रेष्ठ-धर्म के क्षमा इत्यादि लक्षण और व्रतों के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण उपदेश श्रद्धापूर्वक जगद्‌गुरु के मुखारविन्द से निकली हुई गम्भीर ध्वनि में सुना। इसके बाद उसने श्री गौतम गणधर को नमस्कार कर के कहा—देव! दयापूर्वक मेरे पिछले जन्म के वृत्तान्त को आप कहें। इस प्रकार महाराज श्रेणिक के प्रश्न को सुन कर परोपकार-व्रती श्री गौतम गणधर ने राजा से कहा—हे बुद्धिमान्! तू अपने तीन जन्म के पूर्व-वृत्तान्त को ध्यान लगा कर सुन—

विशाल जम्बूद्वीप के विख्यात विन्ध्य पर्वत पर, कुटव नाम के एक ग्राम में खदिरसार नाम का एक भद्र-परिणामी भील रहा करता था। वह बहुत बुद्धिमान था। एक दिन पुण्य के उदय से सब जीवों के कल्याण-कार्य में तत्पर, समाधिगुप्त नाम के मुनि को उसने देखा और नतमस्तक हो कर प्रणाम किया। मुनि महाराज ने भी 'धर्म-लाभ' कह कर शुभ आशीर्वाद दिया। धर्म-लाभ का आशीर्वाद सुन कर भील ने पूछा—महाराज, धर्म क्या है? उसका कार्य और कारण क्या है? और उससे लाभ क्या होता है? उन सभी बातों को आप स्पष्टतया हमें समझा दीजिये। उसके प्रश्न को सुन कर मुनीश्वर ने कहा—हे भव्य! मधु, मांस और मदिरा प्रभृति का परित्याग करना ही अहिंसारूप धर्म है। धर्म करने से उत्तम पुण्य की प्राप्ति होती है और पुण्य से महान् स्वर्ग-मोक्षादि सुखों की प्राप्ति

होती है। यही धर्म करने का उत्तम फल है। मुनीश्वर के उत्तर को सुन कर भील ने कहा—महाराज! मैं तो अभी पूर्णरूप से मांस, मदिरा इत्यादि को त्याग देने में एकदम असमर्थ हूं। उसकी बात को सुन कर मुनीश्वर ने कहा—अच्छा, तू पहले यह तो बता कि कभी कौए का मांस खाया है या नहीं? भील ने कहा—मैंने तो कौए का मांस कभी नहीं खाया है। यह सुन कर मुनीश्वर ने कहा—यदि अबतक तूने कौए का मांस नहीं खाया, तो अब से कौए का मांस न खाने का एक नियम-सा कर ले। नियम के बिना किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती, पुण्य-प्राप्ति की बात को तो सोचना ही व्यर्थ है। मुनीश्वर की बात को सुन कर भील प्रसन्न हुआ और यतीश्वर से व्रत ले कर उन्हें प्रणाम किया एवं उनसे आज्ञा ले कर अपने घर को चला गया। अशुभ पापोदय से उसे एक समय कोई असाध्य रोग हो गया और वैद्य ने उस रोग को दूर करने के लिये औषधि-स्वरूप कौए का मांस खाने को कहा। भील को अबतक मांस-भक्षण से अरुचि और घृणा उत्पन्न हो गयी थी। वैद्यों की बतायी चिकित्सा को सुन कर भील ने अपने परिवारवालों से कहा कि जो करोड़ों जन्मों के दुर्लभ व्रत को अपने प्राणों की रक्षा के लिये छोड़ देता है, वह मूर्ख है और उससे धर्मात्मा पुरुषों को कोई लाभ नहीं होता। शरीर तो प्रत्येक जन्म में मिल जाता है; परन्तु शुभ-व्रताचरण का अवसर तो पुण्यशाली को कभी-कभी ही प्राप्त होता है। व्रत-भङ्ग कर देने की अपेक्षा प्राणों का परित्याग कर देना ही उत्तम है। इस प्रकार शुभ परिणामों से प्राण-परित्याग कर देने पर स्वर्ग प्राप्त होता है और व्रत-भङ्ग कर देने से घोर नरक में जाने के लिये बाध्य होना पड़ता है। भील के इस नियम को जब सारसपुर के रहनेवाले शूर-वीर भील ने सुना, जो कि उस भील का एक मित्र था, तब वह खदिर नाम के बीमार भील से मिलने के लिये उसके नगर की तरफ चला। मार्ग में एक घोर वन पड़ता था। उस वन में जाने पर भील ने देखा कि एक देवी बड़ के वृक्ष के नीचे खड़ी रो रही है। यह देख कर भील ने पूछा—तू कौन है? तेरे इस तरह रोने का कारण क्या है? इस प्रश्न को सुन कर देवी

ने भील से कहा—"महाशय, मैं इस वन की यक्षिणी हूँ और मानसिक व्यथा के कारण यहीं रहती हूँ। खदिर नाम का एक भील जो कि तुम्हारा मित्र है और जिससे मिलने के लिये तुम जा रहे हो, इस समय मरणासन्न है। वह शुभ पुण्योदय से काक-मांस का परित्याग कर चुका है। इसी पुण्योदय के कारण वह मर कर दूसरे जन्म में मेरा पति होगा। तू उससे मांस खाने के लिये आग्रह करने व्यर्थ ही जा रहा है। मांस खिला कर तुम अपने मित्र को असह्य दुःख भोगने के लिये क्या घोर नरक में भेजना चाहते हो? तुम्हारे इसी कार्य की आशंका से मुझे हार्दिक परिताप हो रहा है और इसी कारण से मैं रो रही हूँ।" उस देवी की बात को सुन कर खदिर भील के मित्र ने कहा—देवी! तू शोक करना छोड़ दे, अब मैं उसके नियम को तोड़ने का प्रयत्न कदापि नहीं करूँगा। उसकी बात सुन कर देवी सन्तुष्ट हो गयी; वह आगे बढ़ा। जब वह अपने मित्र के पास पहुँच कर उसे रुग्ण-शय्या पर पड़ा देखा, तब उसके परिणामों की परीक्षा लेने के अभिप्राय से उसने कहा—मित्र, जब कौए के मांस को खा लेने से तुम्हारा रोग दूर हो सकता है, तब तुम्हें खा लेना चाहिये; क्योंकि यदि जीवन रहेगा तो बहुत से पुण्य कार्यों को कर सकोगे। मित्र की इस बात को सुन कर भील ने उत्तर में कहा—मित्र! इस समय अत्यन्त निन्दनीय नरक में भेजनेवाली बात को तुम कहोगे, ऐसी आशा नहीं थी। तुम्हारी बात तो धर्म का नाश करनेवाली है। मेरी इस अन्तिम अवस्था के समय तुम कुछ धार्मिक शब्दों का उच्चारण करो, जिससे कि परलोक में मेरी आत्मा को सुख प्राप्त हो सके। भील के इस दृढ़-निश्चय को देख कर वह प्रसन्न हुआ और वन की यक्षिणीवाली बात उससे कही। इस कथा को कहने का अभिप्राय यह था कि वह अपने काक-मांस-त्यागरूपी व्रत का फल जान जाय। इस बात को सुन लेने के बाद भील के हृदय में विशेषरूप से धर्म के फल पर श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसने संवेग को प्राप्त हो कर मांस इत्यादि का एकदम परित्याग कर दिया और अणुव्रत में तत्पर हो गया। आयु के अन्तकाल में समाधिपूर्वक अपने प्राणों का परित्याग कर के वह खदिर नामवाला भील

व्रत के प्रभाव से अत्यन्त ऋद्धिवाले सौधर्म-स्वर्ग में जा कर उत्तम सुखों का भोगनेवाला देव हुआ। उधर भील का मित्र शूर-वीर जब अपने ग्राम को लौट रहा था, तब मार्ग में पुनः उस देवी से उसकी भेंट हो गयी। उसने देवी से पूछा कि क्या उसका मित्र भील अभी तक उसका पति हो कर नहीं आया? देवी ने उत्तर दिया—मेरा पति तो नहीं हुआ, किन्तु सम्पूर्ण व्रतों से उत्पन्न पुण्य के उदय से वह अत्यन्त ऋद्धिशाली और गुणवान् देव हो कर सौधर्म स्वर्ग में हमारी व्यन्तर जाति से पृथक् कल्पवासी देव हो गया है। वहीं पर वह स्वर्ग की अतुल सम्पत्ति को पा कर जिनेन्द्रदेव की पूजा में तत्पर है और अनेकानेक सुन्दरी देवियों के साथ स्वर्ग-सुख को भोग रहा है। देवी के मुख से अपने मित्र के सम्बन्ध में इन बातों को सुन कर वह सोचने लगा कि व्रत का फल कितना शीघ्र प्राप्त हो जाता है। जिस व्रत के प्रभाव से परलोक में परमोत्तम सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, उस व्रत के बिना एक क्षण भी किसी को व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर के वह शूर-वीर भी तत्क्षण ही समाधिगुप्त मुनि के पास गया और उन्हें प्रणाम कर के प्रसन्नता-पूर्वक गृहस्थ के पालने योग्य व्रतों को ग्रहण कर लिया।

उसी खदिरसार नामक भील के जीव ने स्वर्ग में देव हो कर दो सागर आयु पर्यंत वहां के अलौकिक सुखों को भोगा और अन्त में पुण्य-फल से स्वर्ग से चय कर भव्यों की श्रेणी में तथा मोक्ष-मार्ग का ज्ञाता हो कर राजा उपश्रेणिक एवं इन्द्राणी रानी के गर्भ से राजा श्रेणिक के रूप में उत्पन्न हुआ है।

इस आत्म-वृत्तान्त को सुन कर श्रेणिक राजा का मन श्री जिनेन्द्र प्रभु, देव एवं गुरु इत्यादि में अत्यधिक श्रद्धालु हो गया। उसने मुनि को पुनः-पुनः प्रणाम कर के फिर दुबारा प्रश्न किया—देव, मेरी श्रद्धा धार्मिक कार्यों में बहुत विशेष है; किन्तु अल्प मात्रा में भी हमें कोई व्रत प्राप्त क्यों नहीं हुआ? मुनि ने उत्तर दिया—हे बुद्धिमान्! प्रथम तुम ने अत्यन्त मिथ्यात्व परिणामों से हिंसादि पाँच महापाप, अधिक आरम्भ एवं परिग्रह, अति

विषयभोग तथा धर्महीन बौद्ध-गुरु की भक्ति से इस जन्म में नरकायु का बन्ध कर लिया है; यही कारण है कि तुम्हारे अल्प मात्रा में भी कोई व्रत ग्रहण नहीं होता है। जिनके पास देवायु है, वे भव्य-जीव दो प्रकार के व्रत को ग्रहण कर लेते हैं। मोक्षरूपी राज-प्रासाद का प्रथम सोपान (सीढ़ी) सम्यक्त्व है और वह दस प्रकार का है। आज्ञा, मार्ग, उपदेश, रुचि, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ एवं परमावगाढ़—ये दसों सम्यक्त्व के नाम हैं। सर्वज्ञ की जिस आज्ञा के प्रभाव से छः द्रव्यों में अभिरुचि उत्पन्न होती है, वही 'आज्ञा' नाम का उत्तम सम्यक्त्व है। परिग्रहों से हीन, वस्त्रों से रहित एवं कर-पात्र ही मुनि का स्वरूप हो जाता है और यह मुनि-स्वरूप मोक्ष का मार्ग है। इस मोक्ष-मार्ग में जिस सम्यक्त्व से श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसे 'मार्गदर्शन' कहते हैं। जो तिरेसठ शलाका (पदवी-धारक) महा-पुरुषों के पुराणों को सुन शीघ्र ही धर्म-विनिश्चय किया जाता है, उसे 'उपदेश-दर्शन' कहते हैं। आचाराङ्ग नामक प्रथम अङ्ग में कही गयी क्रियाओं को सुन कर ज्ञानी पुरुषों की उस ओर जो रुचि उत्पन्न हो जाती है, उसे 'रुचि-सम्यक्त्व' कहा जाता है। बीजरूप पद के ग्रहण करने एवं उसके अर्थ के सुनने से जो रुचि उत्पन्न होती है, उसे 'बीज-दर्शन' कहा जाता है। संक्षेपरूप से पदार्थों के स्वरूप-कथन से ही जो श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, वही 'संक्षेप-दर्शन' है। प्रमाणनय के विस्तार से पदार्थों के स्वरूप को विस्तारपूर्वक कहे जाने पर जो कुछ निश्चय किया जाता है, उसे 'विस्तार-सम्यक्त्व' कहा जाता है। द्वादशाङ्गरूपी समुद्र में प्रविष्ट हो कर वचन-विस्तार पर विशेष ध्यान नहीं देते हुए केवल उनके सारभूत अर्थमात्र को ग्रहण करने की जो रुचि या स्वभाव होता है, वह 'अर्थ-सम्यक्त्व' है। अङ्ग एवं अंगबाह्य श्रुत का चिन्तन करने से जो विशिष्ट रुचि होती है, वह 'अवगाढ़-दर्शन' बारहवें गुणस्थान को प्राप्त योगी पुरुषों को होता है तथा केवलज्ञान के द्वारा ज्ञान होने पर सम्पूर्ण पदार्थों का जो श्रद्धान है, वही सर्वश्रेष्ठ 'परमावगाढ़' सम्यक्त्व है। जिनेन्द्र-देव के द्वारा कहे हुए ये ही दस सम्यक्त्व यथार्थतः सम्यक्त्व हैं। इन दसों के भी भेदोपभेद

है। हे राजा ! तू दर्शन-विशुद्धि आदि पृथक्-पृथक् या सम्पूर्ण एकत्रित सोलह कारणों से जगद्गुरु के पास जा कर जगत् को आश्चर्यचकित कर देनेवाला तीर्थङ्कर के नाम एवं कर्म का बन्ध करेगा; परन्तु पूर्व कर्म के प्रभाव एवं फल से परलोक में 'रत्नप्रभा' नरक-भूमि में जायगा—यह निश्चय है। वहां पर कर्मों का फल भोग कर आयु के नाश हो जाने पर वहां से निकलेगा। आगामी उत्सर्पिणी काल के चतुर्थ कालारम्भ में तू महापद्म नाम का तीर्थङ्कर होगा। यह निश्चय है कि तू ही सज्जनों का कल्याणकारक एवं धर्म-तीर्थ-प्रवर्त्तक प्रथम तीर्थङ्कर होगा। हे भव्य ! तू निकटतम भव्य है; अब तुझे संसार से डरने का कोई विशेष महत्वपूर्ण कारण नहीं है। संसार में जितने पुनः-पुनः भटकनेवाले जीव हैं, उन सभी ने अनेकों बार घोर एवं घोरतम नरकों में गमनागमन किया है।

रत्नप्रभा नाम के नरक में अपने जाने की बात सुन कर महाराज श्रेणिक के हृदय में परिताप एवं ग्लानि हुई। बाद में नमस्कार कर के उन्होंने फिर गणधर देव से प्रश्न किया—हे प्रभो ! मेरे नगर को सब लोग उत्तम पुण्य-स्थान कहा करते हैं; तो यह बताइये कि केवलमात्र मैं ही नरक में जाऊँगा या वहां के रहनेवाले और लोग भी नरकगामी होंगे ? इस प्रश्न को सुन कर गणधर श्री गौतम स्वामी ने राजा के ऊपर अनुग्रह कर के कहा—राजन्, तू अपने शोक को दूर करनेवाले सत्य वचन को सुन—

इसी राजगृही में स्थिति-बन्ध एवं नीच-कर्म के द्वारा मनुष्य-आयु बांध कर नीच कुल में उत्पन्न काल-शौकरिक नाम का एक चाण्डाल रहता है। उसको इस समय अपने पूर्व सात भवों का स्मरण हो आया है। इसी कारण वह अब इस तरह का विचार करने लग गया है कि यदि जीव का सम्बन्ध पाप-पुण्य से होता है, तो बिना पुण्य के उसे मनुष्य-जन्म कैसे प्राप्त होता ? इसलिये पाप-पुण्य का कोई भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। जो कुछ है इस संसार में केवल विषय-सुख ही है और उसी से कल्याण हो सकता है। ऐसा सोच कर वह पापात्मा निःशंक हो गया है और हिंसा आदि पाप-कर्म को कर के मांसादि के आहार में

आसक्त रहता है। इसके फलस्वरूप बहुत आरम्भ एवं परिग्रह के कारण उसके नरकायु का संचय हो गया है और अपनी आयु के अन्त में वह पापोदय के कारण निश्चितरूपेण सातवें नरक में जायगा। इसी तरह की एक दूसरी ब्राह्मण की लड़की है, जिसे लोग 'शुभ' नाम से पुकारते हैं। वह पूर्णतया रागान्ध है; वेद-कर्म के फल से शील के श्रेष्ठ-गुणों को जानते हुए भी वह दुःशीला एवं विवेक-भ्रष्टा है। उद्धत इन्द्रियों के वश में हो कर वह लंपट हो गई है और उसकी भी नरकायु संचित हो गई है। वह कोपकारिणी है; इसलिये रौद्र-ध्यान से मरेगी और पापोदय से नाना दुःख-पूर्ण निन्द्य छट्ठे नरक की 'तमप्रभा' नाम की पृथ्वी में जन्म-धारण करेगी। जब गणधर स्वामी ने राजा श्रेणिक को यह वृत्तान्त सुना दिया, तब [illegible] ने पुनः विनयावनत हो कर अपने पुत्र अभयकुमार के पूर्व जन्म-वृत्तान्त के विषय में [illegible] पर गणधर स्वामी ने अनुग्रहपूर्वक अभयकुमार के पूर्व जन्म-वृत्तान्त का [illegible]

[illegible] (भारतवर्ष) में सुन्दर नाम का एक ब्राह्मणकुमार था। वह लोक- [illegible] ओं के साथ मिथ्या-दृष्टि वेद के अध्ययन एवं अभ्यास में तत्पर [illegible] मित्त वह एक दिन अर्हद्दास जैनी के साथ कहीं जा रहा [illegible] बहुत से पत्थरों को इकट्ठा देख कर उनको उसने [illegible] के उन्हें नमस्कार किया। उस मिथ्यात्वी [illegible] गयी। उन्होंने ब्राह्मणकुमार को सत्य [illegible]-प्रहार किया और पीपल टूट कर [illegible] ता थी, जिसे देख कर अर्हद्दास [illegible] वह ब्राह्मणकुमार अर्हद्दास के [illegible] य के प्रभाव से उसी [illegible] ता को हाथों से उखाड़ है। यह तप के प्रभाव से कर्मों का [illegible] लगी और वह

डर गया। उसने अर्हद्दास से पूछा—'मित्र! वास्तव में यह तुम्हारा देव है? उसकी इस बात को सुन कर श्रावक अर्हद्दास ने उस मिथ्यात्वी को सत्य बात समझा देने के अभिप्राय से कहा—भले आदमी, ये सब वृक्ष हैं; किसी का कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। पाप-कर्म के उदय से इन्हें एकेन्द्री जन्म धारण करना पड़ा है, इन्हें देव समझना भूल है। तीर्थङ्कर के अतिरिक्त और कोई देव नहीं हो सकता। तीर्थङ्कर श्री अर्हन्त प्रभु ही सम्पूर्ण भव्य-जीवों को भोग एवं मोक्ष के प्रदाता हैं। तीनों लोक उन्हीं को प्रणाम करता है और वे ही त्रैलोक्य-वन्द्य हैं। उनको छोड़ कर दूसरा कोई मिथ्यात्वी देव वन्दनीय नहीं हो सकता। उस जैनी के इन वचनों को सुन कर उस विप्रकुमार की देव-मूढ़ता दूर हो गयी। अथानन्तर वे आगे बढ़े और गङ्गा नदी के किनारे जा पहुंचे। गंगा को देख कर उस मिथ्यात्वी विप्रकुमार ने कहा—इसका जल परम पवित्र है और दूसरों को पवित्र करने की इसमें असीम शक्ति है। ऐसा कह कर उसने गंगा-जल में श्रद्धापूर्वक स्नान किया और निकलने के बाद पुनः उसे नमस्कार किया। उसको ऐसा कहते देख कर अर्हद्दास ने अपना उच्छिष्ट (जूठा) अन्न खाने के लिये एवं गंगा-जल पीने के लिये उस ब्राह्मणकुमार को दिया। इस पर विप्र ने कहा—क्या मैं तुम्हारा उच्छिष्ट खाऊँ? उसके उत्तर को सुन कर अर्हद्दास ने तर्क की दृष्टि से कहा—विप्र, तुम्हें मेरा उच्छिष्ट अन्न-जल तो अग्राह्य जान पड़ता है, किन्तु जब गधे आदि नाना प्रकार के निन्द्य पशु उसी जल को पी कर उच्छिष्ट कर देते हैं, तो उस गंगा-जल को तुम परम पवित्र कैसे कह रहे हो? और जो स्वयं पवित्र नहीं है, वह दूसरों को कैसे शुद्ध कर सकता है? जल को तीर्थ समझना भ्रम है—स्नान करने से मनुष्यों की शुद्धि नहीं हो सकती, बल्कि इससे उन्हें अपकायिक हिसा का पाप ही होता है। यह शरीर स्वभाव से ही सदैव अपवित्र है और इससे विपरीत आत्मा सदा-सर्वदा स्वच्छ एवं परम निर्मल है। यदि मिथ्यात्व से मलिन सब प्राणी, केवल स्नान करने से ही शुद्ध हो जांय, तो सदैव स्नान करते रहनेवाले मत्स्य (मछली) आदि जल-जीवों को परम पवित्र समझ कर

उन्हें नमस्कार करना चाहिये, उन्हें हीन समझ कर उन पर करुणा-दृष्टि क्यों रखी जाती है ? इसलिये तुम्हें मान लेना चाहिये कि केवल अर्हन्त ही तीर्थ हैं, अन्य नहीं। उन्हीं के वचनामृत से सब के आन्तरिक पाप-रूपी मल दूर हो सकते हैं और वे ही शुद्धि प्रदान करने में समर्थ हैं। इस प्रकार उस अर्हद्दास ने विप्रकुमार की तीर्थ-मूढ़ता को भी दूर कर दिया। फिर आगे जाने पर पञ्चाग्नि में बैठे हुए एक पुरुष को देख कर विप्रकुमार ने कहा—इस प्रकार के तपस्वी हमारे धर्म में बहुत होते हैं। उसकी गर्वोक्ति को सुन कर अर्हद्दास ने अनेक अलौकिक शास्त्र-वचनों से प्रथम तो उस तपस्वी को ही मद-रहित किया, फिर स्पष्टतया उस ब्राह्मणकुमार से कहा कि ये छोटे तपस्वी क्या तप करेंगे ? इस धरातल पर तो महान् देव अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, निर्ग्रन्थ ही गुरु हैं और दयालुतापूर्ण धर्म ही परमोत्तम है। जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा कहा गया दीपक के समान प्रकाशमान जैन-शास्त्र ही सत्य हैं। जैन-मत वन्दनीय है और पापहीन तप सब की शरण हैं। इन्हीं की उत्तमता को स्वीकार करना चाहिये। इसलिये मेरे मित्र, तुम भी मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-धर्मरूपी कुप्रथा को शत्रु के समान दूर ही से छोड़ दो और आत्म-कल्याण के लिये सम्यग्दर्शन को ग्रहण करो। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए दोनों मित्र जब और आगे बढ़ गये, तब पापोदय के कारण भयङ्कर वन में जा पहुंचे और मार्ग-दिशा को भूल गये। उस जनहीन वन में उनके जीवन-धारण करने का कोई आधार नहीं था, निदान, वे दोनों शरीर एवं आहार से ममता छोड़ कर मोक्ष-प्राप्ति के लिये सन्यासी हो गये। उन दोनों ने धैर्यपूर्वक भूख, प्यास इत्यादि परीषहों को सहा और समाधिरूप शुभ ध्यान से शरीर को छोड़ दिया। इसके बाद अन्तिम आचरण के प्रभाव से उत्पन्न पुण्य के फल से दोनों ही सौधर्म-स्वर्ग में गये और वहां महान् ऋद्धिधारी और देववन्द्य देव हुए। चिरकाल दोनों ने स्वर्ग-सुखों को भोगा और अन्त में पुण्योदय के प्रभाव से उसी ब्राह्मणकुमार का जीव तुम्हारा पुत्र 'सुन्दर' हो कर उत्पन्न हुआ है। यह तप के प्रभाव से कर्मों का नाश कर के शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार

उन दोनों की पूर्व कथा को सुन कर कितने ही लोगों ने विरक्त हो कर संयम (यति-धर्म) को स्वीकार कर लिया और कितने ही गृहस्थ-धर्म एवं सम्यक्त्व मे तत्पर हो गये। महाराजा श्रेणिक भी अपने पुत्र के साथ धर्म-शास्त्ररूपी अमृत का पान करने के उपरान्त श्री महावीर जिनेन्द्र प्रभु को और अन्य गणधरों को नमस्कार कर के अपने नगर को वापस लौट आये।

इसके बाद जिनेन्द्र प्रभु के समवशरण में जो बहुत से महापुरुष रहते हैं, उनका विवरण भी जान लेना आवश्यक है। इन्द्रभूति (गौतम), वायुभूति, अग्निभूत, सुधर्म, मौर्य, मौंड, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, धवल और प्रभास—ये ग्यारह गणधर देववन्द्य हैं और चार ज्ञान के धारक हैं। प्रभु के चतुर्दश चौदहपूर्वों को स्मरण रखनेवाले तीन सौ मुनि होते हैं। चारित्र धारण करने में तत्पर शिक्षक मुनि नौ हजार नौ सौ हैं तथा अवधिज्ञानी तेरह सौ होते हैं। साथ ही सामान्य-केवली सात सौ और विक्रिया-ऋद्धि के धारी नौ सौ मुनि और होते हैं। ये सभी संयमी होते हैं तथा रत्नत्रय से अलंकृत रहते हैं। इन सब की सम्मिलित संख्या चौदह हजार की है। ये सभी जिनेन्द्र प्रभु के समवशरण में वर्त्तमान रहा करते हैं। चन्दना इत्यादि छत्तीस हजार अर्जिकाएँ भी उस समवशरण-सभा में उपस्थित रहती हैं और तप एवं मूलगुणों से युक्त हो कर प्रभु के चरणारविन्द को अहर्निश नमस्कार करने में तत्पर रहता है। इसके अतिरिक्त दर्शन-ज्ञान और उत्तम व्रतों से युक्त एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ प्रभु के पदारविन्द की पूजा में तत्पर रहती हैं। असंख्य देवी-देवता प्रभु की अलौकिक स्तुति और पूजा इत्यादि अनेक महोत्सवों की रचना किया करते हैं। सिंह, सर्प इत्यादि तिर्यञ्च जीव भी संसार से डर कर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शान्तचित्त हो कर श्री महावीर प्रभु की शरण में आ जाते हैं। इस प्रकार समवशरण में भगवान विशिष्ट बारह प्रकार के भक्त जीव-समूहों से एकदम घिरे हुए हैं। त्रैलोक्याधिपति एवं जगद्गुरु श्री महावीर प्रभु ने शनैः-शनैः विहार करते हुए अनेक देशों और नगरों में रहनेवाले

भक्त एवं श्रद्धालु भव्य-जीवों को धर्मोपदेश के द्वारा ज्ञान प्रदान किया तथा मोक्ष-मार्ग के निविड़तम अज्ञानान्धकार को अपनी वचनरूपी किरणों से परास्त कर उसे आलोकमय कर दिया। इस प्रकार तीस वर्ष पर्यन्त विहार करते हुए अनेक सुन्दर फल-पुष्पों से सुशोभित पावापुरी के उपवन में वे पहुंचे। उस उद्यान में आ कर मन, वचन, काय एवं दिव्य वाणी को योग द्वारा रोक कर वे क्रियाहीन हो गये। छः दिन उन्होंने योग-निरोध किया और मोक्ष-प्राप्ति के लिये अघातिया कर्मों को नष्ट कर देनेवाला 'प्रतिमायोग' धारण किया। इसके बाद प्रभु ने मुक्तिरोधक बहत्तर कर्म-प्रकृतियों को शत्रु समझ कर, महायोद्धा की तरह अपनी अतुलनीय शक्ति से 'अयोगी' नामक चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त चौथी शुक्ल-ध्यानरूपी तलवार द्वारा चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम दो समय के प्रथम काल में उन्हें नष्ट कर डाला। बहत्तर कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—देवगति, पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बन्धन, तीन अंगोपांग, छः संस्थान, छः संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देव गत्यानुपूर्व्य, अगुरु-लघु, उपघात-परघात, उच्छ्वास, दोनों बिहायोगतियाँ, अपर्याप्ति प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, आदेय, अयशस्कीर्ति, असाता वेदनीय, नीच-गोत्र और निर्माण। इसके बाद आदेय, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, पाँच-इन्द्रिय जाति, मनुष्यायुपर्याप्ति, त्रस, बादर, सुभग, सातावेदनीय, उच्चगोत्र, तीर्थङ्कर तथा नाम—इन तेरह कर्म-प्रकृतियों को चौदहवे गुणस्थान के अन्तिम समय में शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से श्री महावीर प्रभु ने नष्ट कर दिया। इस प्रकार प्रभु सम्पूर्ण कर्म-रूपी शत्रुओं का और औदारिक आदि तीन प्रकार शरीरों का नाश कर, स्वभावतः उर्द्ध-गति होने के कारण, एकदम निर्मल हो कर मोक्ष-स्थान को प्राप्त हो गये। कार्तिक कृष्ण अमावस्या तिथि के स्वति नक्षत्र एवं प्रातःकाल के समय में प्रभु को मोक्ष प्राप्त हुआ था।

श्री महावीर प्रभु ने जब मूर्तिहीन एवं आठ गुणों से युक्त हो कर सिद्धपद को पाया, तब वे निर्बाध थे, कर्महीन थे, अनन्त थे, उत्कट इन्द्रियादि सुखों से परे थे, पर-द्रव्य से हीन थे

तथा नित्य दुःखों से नितान्त ही रहित थे। उन्हें अनुपम आत्म-सुख प्राप्त हुआ। मनुष्य एवं संसार के अन्य सब प्राणी निश्चिन्त हो कर जितने प्रकार के सुख वर्त्तमान में भोग रहे हैं, भूतकाल में भोगे थे तथा भविष्य में भोगेंगे—इन त्रैकालिक सुखों को एकत्रित करने पर जितना सुख होगा, उससे भी अनन्तगुणा अधिक सर्वोत्कृष्ट सुख को प्रभु ने भोगा है और भविष्य में अनन्तकाल भोगते रहेंगे। ऐसे सिद्ध महापुरुष को मैं सतत् नमस्कार करता हूं। उनके मोक्ष प्राप्त हो जाने की सूचना पा कर देव एवं इन्द्राणियों के साथ चारों जाति के देव पृथक्-पृथक् चिह्नों से युक्त हो कर आये तथा नृत्य, गीत एवं ऐश्वर्यपूर्ण महोत्सव मना कर प्रभु की पूजा की। जिस उपवन में प्रभु को निर्वाण प्राप्त हुआ था, वहां पर उत्सव में श्रद्धांजलि अर्पित करने से सभी का कल्याण हुआ। इसके बाद इन्द्र ने निर्वाण-साधक प्रभु के शरीर को अत्यन्त रत्नोज्ज्वल स्वर्णनिर्मित पालकी में रखा। अनन्तर प्रभु के शरीर में अनेक सुगन्धित द्रव्यों को लगाया, उनकी पूजा की और माथा टेक कर भक्तिपूर्वक पुनः-पुनः उन्हें प्रणाम किया। फिर अग्निकुमारदेव के मुकुट में अग्निकण उत्पन्न हुआ और उसी दिव्याग्नि से प्रभु का शरीर जलाया गया। प्रभु के शरीर की सुगन्धि सम्पूर्ण दिशाओं में फैल गयी। अन्त में इन्द्र के साथ सभी देवों ने प्रभु का चिता-भस्म को अपने हाथों में लेकर शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति की कामनाएँ प्रकट कीं। उस चिता-भस्म को क्रमशः मस्तक, बांह, नेत्र एवं सम्पूर्ण शरीर में सब लोगों ने लगाया और मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रभु की पर्याप्त प्रशंसा की। इन्द्र आदि ने उस पवित्र तप-भूमि में धर्म की प्रवृत्ति को धारण किया तथा मोक्ष-भूमि की कल्पना की।

इसके बाद श्री गौतम गणधर के भी शुक्ल-ध्यान के द्वारा घातिया-कर्मरूपी महाशत्रुओं का नाश हो गया और उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। अन्य गणधरों से युक्त हो कर इन्द्रादि देवों ने उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की। इन्द्रभूति (गौतम) स्वामी परम विभूतियों से युक्त थे; परम पूजनीय थे। उत्तम चारित्र के प्रभाव से मनुष्य, देवगति आदि में

अनुपम सांसारिक सुखों को भोग कर अन्त में मनुष्य, विद्याधर एवं देव-स्वामियों के द्वारा पूजनीय होता है, तीर्थङ्कर पदवी को प्राप्त होता है और कर्मों का नाश कर उत्तम मोक्ष-प्रासाद को प्राप्त कर लेता है; इसी प्रकार श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर स्वामी ने भी सहज ही मोक्ष-महल को प्राप्त कर लिया। अब मैं श्री जिनेन्द्र प्रभु महावीर स्वामी की पुनः-पुनः स्तुति एवं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

विंश प्रकरण

श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु गुणों के रत्नाकर हैं; वीर पुरुषों के द्वारा पूजित हैं, वीर पुरुषों के आश्रय एवं आधार एकमात्र महावीर ही हैं, इन्हीं के द्वारा मोक्षरूपी परम सुख प्राप्त हो सकता है। पापों को सर्वतोभावेन पराजित करने के लिये महावीर प्रभु ही शूराग्रणी महायोद्धा हैं, उनका बल अपरिमेय है। अर्हन्त महावीर प्रभु को मैं नित्यशः कोटिशः प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि मेरा चञ्चल चित्त उन्हीं के चरणारविन्दों में लगा रहे। हे महावीर प्रभु! दयापूर्वक आप हमें भी अपने ही तुल्य वीर बनावें। इस प्रकार अनेक बार प्रार्थना कर चुकने के बाद ग्रन्थकार कवि कहते हैं—मैंने चरित्र-रचना के हेतु भक्तिवश नतमस्तक हो कर महावीर प्रभु के चरण-कमलों को प्रणाम किया है, भक्तिपूर्वक अपनी वाणी से महावीर प्रभु के उत्तमोत्तम गुणों की प्रशंसा एवं स्तुति की है। अपने भावों के द्वारा श्रद्धावश प्रभु की अनेकशः पूजा की है। श्री महावीर प्रभु ने मोक्ष के हेतुभूत सम्यग्दर्शनादि तीन रत्न एवं उनके उत्पन्न और भी अन्यान्य शुभ साधन एवं समय को, मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से धारण कर लिया था। वे महावीर प्रभु हमें भी इस लोक एवं परलोक में मुक्ति के सम्पूर्ण साधनों को प्रदान कर अनुग्रहीत करें। जिन्होंने अपनी परमोत्तम ध्यानरूपी तीक्ष्ण दृष्टि से कर्मरूपी महाशत्रुओं का संहार कर सहज में ही मोक्ष-पदवी को पा लिया, वे अर्हन्त जिनेन्द्र प्रभु हमें इन्द्रियरूपी चोरों से बचायें तथा कर्मरूपी महा-

शत्रुओं का शीघ्र नाश कर दे जिससे कि हम भी मोक्ष के अधिकारी हो जायें। महावीर प्रभु ने त्रैलोक्य-प्रशंसित, अनन्त, निर्मल केवलज्ञानादि जिन उत्तम गुणों को प्राप्त किया; उन्हें वे हमें भी प्रदान करें। प्रभु ने मुक्तिरूपी कुमारी को विधिपूर्वक स्वीकृत कर लिया; हमें भी सुख शान्ति के लिये निर्मल एवं अनन्त मुक्ति प्रदान कर। ग्रन्थकार कवि पुनः आत्म-निवेदन कर कहते हैं—इस पवित्र ग्रन्थ की रचना मैंने कीर्ति-पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लालच में पड़ कर नहीं की; अभिमानवश कवित्व-चातुरी दिखाने के लिये भी नहीं की। प्रत्युत यह तो केवल मेरी धर्मबुद्धि की प्रेरणा है, जिससे भव्य-जीवों का उपकार और मेरे कर्मों का नाश हो। प्रभु के असंख्य उत्तम गुणों को माला में गूंथ कर इस परम पवित्र चरित्र को सकलकीर्ति गणी ने रचा है। प्रभु की गुण-कथा होने के कारण यह दोष-रहित है। फिर भी यदि प्रमाद एवं अज्ञान से कहीं अशुद्धि रह गयी हो या कहीं असम्बद्ध कहा गया हो, तो पाठक उदारतापूर्वक मुझे क्षमा करेंगे तथा इसे शुद्ध कर पढ़ने की कृपा करेंगे। मुझ अल्पज्ञानी की असम्बद्धता, अक्षर सन्धि एवं मात्रादि दोषों को क्षमा करेंगे। इस परम पवित्र ग्रन्थ को जो पढ़ेंगे या पढ़ायेंगे तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचार करने के अभिप्राय से स्वयं लिख कर या लिखवा कर प्रकाशित करेंगे, वे पुण्यात्मा कहलायेंगे और ज्ञान-दान के प्रभाव से संसार के सर्वोत्तम सुखों को भोग कर अन्त में केवल-ज्ञान को पायेंगे।

जो महावीर प्रभु गुणों के रत्नाकर हैं, धर्म-रत्न के उत्पत्ति-स्थान हैं, भव्य-जीवों के एकमात्र शरण हैं, इन्द्र आदि देवों के द्वारा पूजित तथा स्वर्ग-मोक्ष के मूलकारण हैं। जबतक धरातल पर से काल का अन्त न हो जाय, तबतक उन प्रभु के इस उत्तम एवं पवित्र चरित्र का आर्यखण्ड के सभी स्थानों में प्रचार हो, प्रसिद्धि हो और यह संस्थित रहे—यही मेरी मनोकामना है। प्रभु ने स्वर्ग एवं मोक्ष देनेवाले निर्दोष अहिंसामय उत्तम धर्म का उपदेश, मुनि-श्रावक भेद से किया है। वह परम सुखदायक धर्म तबतक निश्चयरूपेण रहेगा, जबतक पृथ्वी पर सूर्य-चन्द्र है। पवित्र धर्म के उपदेष्टा एवं व्याख्याता श्री महावीर

प्रभु को मैं बार-बार नमस्कार करता हूं। वे मेरे विश्व-भ्रमण का अन्त शीघ्र कर दें। विस्तार में न जा कर, इतना ही पर्याप्त है कि मेरे द्वारा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक संस्तुत श्री महावीर प्रभु, अपने ही समान अद्भुत, अनुपम एवं सर्वोत्तम गुणों को हमें प्रदान करें। इस चरित्र में ग्रन्थ संख्या के अनुसार कुल तीन हजार पैंतीस श्लोकों का अनुवाद है, शुभमस्तु—